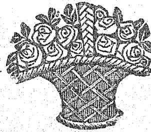
* ओ३म् *

श्रीमन्महर्षि जैमिनिमुनि प्रणीतम्

मीमांसा दर्शनम्

[मूल संस्कृत और भाषानुवाद सहित]



मिलने का पता:—

देहाती पुस्तक भंडार,

चावड़ी बाजार, दिल्ली-६

फोन : २६१०३०



प्रथमवार १५००] [मूल्य [illegible]

प्रकाशक:—
राष्ट्रनिधि प्रकाशन
दरीबा कलां, देहली ।

मूल्य ६) रुपया

प्रथम संस्करण

मुद्रक:—
सार्वदेशिक प्रेस,
दरियागंज, दिल्ली-७



महर्षि जैमिनि प्रणीत

मीमांसा-दर्शनम्

❀ प्रथमोऽध्यायः प्रारभ्यते ❀

सं०-महर्षि जैमिनि अभ्युदय और मोक्ष की प्राप्ति के लिये वेदोक्त धर्म का प्रतिपादन करते हैं।

अथातो धर्मजिज्ञासा ॥१॥

प० क्र०-(अथ) वेदाध्ययन के अनन्तर (धर्म जिज्ञासा) धर्म के जानने की जिज्ञासा (अतः) अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्ति का साधन है।

भा० जन्मान्तर में मनोवांछित कार्यों का उदय और दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति द्वारा परमानन्द प्राप्ति, दोनों धर्म से प्राप्त होते हैं अतः धर्म की अभिलाषा होनी ही चाहिये।

सं०-धर्म का लक्षण क्या है।

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥२॥

प० क्र०-(चोदना लक्षणः) विधान में आया (अर्थः) मात्र (धर्मः) कहा जाता है।

भा०—वेद में जिस जिस कर्म के करने की प्रेरणा हो वह धर्म का लक्षण है अर्थात् जिससे जन्म जन्मान्तर में परमानन्द मिले उस वेद प्रतिपादित कर्म का अनुष्ठान धर्म का लक्षण समझना चाहिये।

सं०—धर्म प्रमाण की परीक्षा की स्थापना करते हैं।

तस्य निमित्तपरीष्टिः ॥३॥

प० क्र०—(तस्य) उस वेदोक्त धर्म की (निमित्त परीष्टिः) प्रमाण परीक्षा है।

भा०—धर्म के विषय में केवल वेद ही प्रमाण है अतः प्रमाण परीक्षा की स्थापना श्रेष्ठ है।

सं०—प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म में काम नहीं आता।

सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ॥४॥

प० क्र०— (पुरुषस्य) पुरुष को (इन्द्रियाणां) इन्द्रियों का (सत्सम्प्रयोगे) कार्य वस्तुओं से संयोग होने पर (बुद्धि जन्मः) जो ज्ञान होता है (तत्) उसका नाम ही (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष है। वह (अनिमित्तं) धर्म में प्रमाण नहीं क्योंकि (विद्यमानोपलम्भनत्वात्) वह विद्यमान पदार्थों का इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त होता है।

भा०—आभ्यन्तर और बाह्य उभय भेद इन्द्रियों के होते हैं यह इन्द्रियां अपने अपने विषय से सम्बन्ध उत्पन्न कर तत् तत् पदार्थ का बोध कराती हैं और इसी सम्बन्ध के ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण माना है। परन्तु अतीन्द्रिय वस्तु का ज्ञान किस प्रकार

हो, जहां इन इन्द्रियों का सम्बन्ध ही नहीं है । इस लिये प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म में सर्वथा लागू नहीं होता । इसी प्रकार न अनुमान प्रमाण काम में लाया जा सकता है क्योंकि अनुमान का भी दृष्टान्त में नियम से सम्बन्ध माना जाता है और उसके दूसरे अज्ञात सम्बन्धि का ज्ञान उद्गत् होना अनुमान होता है परन्तु अतीन्द्रय पदार्थ में तुलनात्मक धर्म अनुमान से इसलिये परे होता है कि जिसका प्रत्यक्ष नहीं उसका अनुमान कैसा !

सं०—अतः शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होने से वेद स्वतः प्रमाण है । उसको कहते हैं ।

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञान मुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥५॥

प० क्र० (शब्दस्य) वेद वाक्यों में प्रत्येक पद (अर्थेन) स्व अर्थ से (औत्पत्तिकः) स्वाभाविक (सम्बन्धः) सम्बन्ध रखता है (तस्य) धर्म के (ज्ञानं) यथार्थ ज्ञान का साधन (उपदेशः) ईश्वरोपदिष्ट होने से (च) तथा (अनुपलब्धे, अर्थे) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अप्राप्त (अव्यतिरेकः) व्यभिचारी और विरोधी नहीं है (बादरायणस्य) व्यास जी के मत में [तत्] वह वचन [अनपेक्षत्वात्] अपने अर्थ सत्यता के कारण [प्रमाणं] धर्म में स्वतः प्रमाण है ।

सं०—शब्द नित्य है, अतः पूर्व पक्ष करते हैं ।

कर्मैके तत्र दर्शनात् ॥६॥

प० क्र०-[एके] कोई २ [कर्म] शब्द को कार्य मानते हैं। [तत्र] शब्द में [दर्शनात्] प्रयत्न पाया जाता है।

भा०-जो वस्तु यत्न से प्राप्त होने वाली है वह अनित्य होगी इस नियम से शब्द भी यत्न से सिद्ध होता है अतः वह अनित्य हो जायेगा क्योंकि वह कार्य हो गया इससे अनित्यता आती है।

सं०-पुनः अनित्यता दिखलाते हैं।

अस्थानात् ॥७॥

प० क्र०-[अस्थानात्] न ठहरने वाला होने से भी।

भा०-नित्य वस्तु स्थिर होती है शब्द उच्चारण काल के अनन्तर नहीं रहता अतः अनित्य सिद्ध है।

सं०-दूसरा अनित्यता हेतु यह भी है।

करोति शब्दात् ॥८॥

प० क्र०-[करोति शब्दात्] देवदत्त ने शब्द किया इस विषय व्यवहार से भी इसकी अनित्यता होती है।

सं०-और हेतु से भी अनित्यता है।

सत्वान्तरे च यौगपद्यात् ॥९॥

प० क्र०-[सत्वान्तरे च] इस तथा अन्य देशस्थ पुरुष में [योगपद्यात्] एक ही समय में प्राप्ति होने से भी शब्द अनित्य है।

भा०-एक शब्द अनेक देशान्तर में मिलने से भी उसकी अनित्यता देखी जाती है जो देवदत्त यहां 'गौ' शब्द कह रहा है देशान्तर में शिवदत्त भी 'गौ' शब्द कहता है अतः यदि

एक नित्य शब्द होता तो एक काल में ही, एक अथवा अनेक देश में दो व्यक्तियों में उसकी समान उपलब्धि न होती। अतः शब्द नाना हैं और नाना होने से अनित्य भी हैं।
सं०—अन्य हेतु भी दिया जाता है।

प्रकृति विकृत्योश्च ॥१०॥

प० क्र०—[च] तथा [प्रकृति विकृतयोः] प्रकृति या विकृति के कारण शब्द अनित्य है।
भा०—शब्द में एक अक्षर के स्थान में दूसरा आने अर्थात् आगम और लोप होने से भी अनित्य है क्योंकि प्रकृति विकृति रूप होता रहता है अतः शब्द अनित्य है।
सं०—और भी हेतु हैं।

वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य ॥११॥

प० क्र०—[च] तथा [कर्तृभूम्ना] अधिक शब्द बोलने वालों के कारण से [अस्य] शब्द के [वृद्धिः] बढ़ते देखे जाने से भी शब्द अनित्य है।
भा०—पुरुष प्रयत्न से वृद्धि को प्राप्त होने वाली वस्तु अनित्य होती है। शब्द भी पुरुष प्रयत्न से बढ़ता है, अतः अनित्य है।
सं०—अब इन सब का उत्तर दिया जाता है।

समन्तु तत्र दर्शनम् ॥१२॥

प० क्र०—[तु] किन्तु [तत्र] नित्य तथा अनित्य मानने वालों में [दर्शनम्] शब्द का क्षणमात्र दर्शन होना [समं] समतुल्य है।
भा०—अनित्यवादी शब्द को प्रयत्न से उद्भूत मानते हैं और नित्यवादी के भी मत में प्रयत्न से उद्भूत है अतः दोनों मतों

में उत्पन्न और उद्भूत [प्रकट] होने के आगे क्षण की समानता है अतः वह प्रयत्न सिद्ध शब्द नित्य है।

सं० पूर्व पक्ष सातवें सूत्र का जो भाव है उसका उत्तर।

सतः परमदर्शनं विषयानागमात् ॥१३॥

प० क्र०—[सतः] शब्द के होने से [अदर्शनं] जो दूसरे क्षण में दर्शन न होना वह [परं] केवल [विषयानागमात्] शब्द के व्यंजन न होने से।

भा०—जो यह कहा गया कि उच्चारण के अनन्तर शब्द नहीं रहता अतः वह अनित्य है, यह समीचीन नहीं। उसका उस समय अदर्शन नहीं है किन्तु उसका अभिव्यंजक बोलने वाला न रहने से प्रतीत नहीं होता। अतः शब्द नित्य है।

सं०—आठवें सूत्र के पूर्व पक्ष का उत्तर यह है।

प्रयोगस्य परम् ॥१४॥

प० क्र०—(परम्) किन्तु (प्रयोगस्य) पचति, करोति, क्रिया आदि उच्चारण के भाव से हैं।

भा०—'पचति' पकाता है, 'करोति' करता है यह क्रियायें उच्चारण के अभिप्रायः से हैं बनाने के नहीं अर्थात् उसका मूल कर्त्ता है अतः शब्द नित्य है।

आदित्यवद्यौगपद्यम् ॥१५॥

प० क्र०—(यौग पद्यम्) एक शब्द का अनेक देशों में समकाल में होना [आदित्यवत्] जैसे सूर्य के समान समझना।

भा०—जैसे एक सूर्य एक समय में अनेक देशों में समकाल में दिखाई देता है इसी प्रकार शब्द स्वरूप से नानात्व को प्राप्त

नहीं अतः नित्य है।

सं०—दशवें सूत्र का उत्तर यह है।

शब्दान्तरमविकारः ॥१६॥

प्र० क्र०—[अविकारः] जहां 'इ' के स्थान में 'य' होता है वह विकार वश नहीं किन्तु (शब्दान्तरम्) यकार से अन्य शब्द की ओर है।

भा०—'य' अक्षर यदि 'इ' अक्षर का विकार होता तो यकार के ग्रहण में इकार का नियम पूर्वक ग्रहण होना चाहिये था क्योंकि जिसका जो विकार है वह अपनी प्रकृति के ग्रहण में नियम रखता है अतः यकार इकार का विकार नहीं केवल शब्दान्तर मात्र है।

सं०—ग्यारहवें सूत्र का उत्तर यह है।

नादवृद्धि परा ॥१७॥

प्र० क्र०—(नाद वृद्धि परा) अधिक बोलने वालों के कारण नाद की वृद्धि है शब्द की नहीं।

भाव०—सावयव पदार्थ घटता बढ़ता है न कि निरवयव, शब्द निरवयव है अतः वृद्धि रहित है अतः नाद नित्य है।

सं०—अब शब्द की नित्यता सिद्ध करते हैं।

नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् ॥१८॥

प्र०क्र०-(नित्य) शब्द नित्य(स्यात्)है (तु) अनित्य नहीं(दर्शनस्य) उसका उच्चारण (परार्थत्वात्) श्रोता के ज्ञान के लिए होने से।

भा०—यदि शब्द न बोला जाता तो श्रोता को कुछ भी लाभ न होता, अर्थ के ज्ञान का कारण शब्द माना है।

सं०—शब्द की नित्यता में अन्य हेतु भी है।

सर्वत्र यौगपद्यात् ॥१६॥

प० क्र०—(सर्वत्र) सब शब्दों में (यौगपद्यात्) एक ही समय में प्रत्यभिज्ञा होने से।

भा०—जिसको पूर्व देखा जावे और फिर वही देखा जावे ऐसी प्रत्यभिज्ञा किसी भी प्रमाण से नहीं हट सकती अतः शब्द स्थायी है क्षणिक नहीं अतः नित्य है।

सं०—और भी शब्द के नित्यत्व का हेतु देते हैं।

संख्याभावात् ॥२०॥

प० क्र०—(संख्याभावात्) संख्या के भाव (होने) से भी शब्द नित्य है।

भा०—उच्चारण करने वाले ने एक शब्द कई बार कहा, यह भी शब्द के नित्यत्व में प्रमाण है।

सं०—शब्द के नित्य होने में और हेतु।

अनपेक्षत्वात् ॥२१॥

प० क्र०—(अनपेक्षत्वात्) शब्द का नाश हो गया इसका कारण न जानने से भी वह नित्य है।

भा०—घट टूट गया, पट फट गया। इसके फट जाने पर फूट जाने पर भी, नाश का ज्ञान है और पूर्व भी था, कि टूटे फटेगा परन्तु शब्द नाश कारण नहीं जाना गया अतः शब्द निरवयव है और उसके नाश का कारण नहीं जानने से वह नित्य है।

सं०—शब्द वायु का कार्य है अतः उसकी उत्पत्ति होने से

अनित्य है।

प्रख्याभावाच्च योगस्य ॥ २२ ॥

प० क्र०—(योगस्य) शब्द में वायु के अंश होने से (प्रख्याभावात्) श्रवणेन्द्रिय प्रत्यक्ष न होने से (च) एवं त्वचा इन्द्रिय से शब्द स्पर्श प्रत्यक्ष नहीं होने से।

भा०—जो जिसका कार्य है उसका उसके अवयवों से सम्बन्ध होता है जैसे तन्तु का पट का अवयव से सम्बन्ध है अतः यदि शब्द वायु का कार्य होता तो श्रवणेन्द्रिय से शब्द में भी वायु के अवयवों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष होता परन्तु ऐसा नहीं है अतः शब्द वायु का कार्य नहीं। दूसरे वायु का स्पर्श गुण भी उसमें नहीं क्योंकि त्वचा को प्रत्यक्ष नहीं है।

सं०—शब्द के नित्यत्व में अन्य हेतु।

लिङ्ग दर्शनाच्च ॥ २३ ॥

प० क्र०—(च) तथा (लिङ्ग दर्शनाच्च) वेद में शब्द के नित्य चिन्ह मिलने से भी।

भा०—पूर्व पुण्यों के प्रभाव से योग्यता वश ऋषियों ने ईश्वर की प्रेरणा से अपने हृदय में वेद शब्द पाया इससे भी शब्द का नित्यत्व अबाधित प्रमाण है।

सं०—कहते हैं कि शब्द तथा शब्दार्थ नित्य हों भी तो भी वेद वाक्य धर्म में प्रमाण रूप नहीं।

उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्युरर्थस्या तन्निमित्त-त्वात् ॥ २४ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष स्थापक है। (उत्पत्तौ) शब्द एवं

शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य होने से वेद वाक्यस्थ पदों से पदार्थ बोध यद्यपि हो भी तो भी (अवचनाः स्युः) वाक्यार्थ बतलाने वाले नहीं (अर्थस्य) कारण कि अर्थ का ज्ञान (अतन्निमित्त-त्वात्) वाक्य से होता है पदों से नहीं।

भा०—पद पदार्थ का सम्बन्ध नित्य है वर्ण समुदाय भी नित्य है अतः पदों से पदार्थज्ञान अन्य की अपेक्षा से भी होगा परन्तु पद समुच्चय रूप वाक्य और उसके अर्थ का नित्य सम्बन्ध नहीं होता कारण कि वाक्यार्थ पदार्थों से विचित्र होता है और पद का पदार्थ से सम्बन्ध होता है वाक्यार्थ से नहीं।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ २५ ॥

प० क्र—(तद्भूतानां) स्व-अर्थों में वर्त्तमान पदों का (क्रियार्थेन) क्रियावाची पदों के साथ (समाम्नायः) पाठ होने से उनके समुदाय से ही वाक्यार्थ का ज्ञान होता है (अर्थस्य) वाक्यार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में (तन्निमित्तत्वात्) पदार्थ ज्ञान ही एक कारण है अन्य नहीं।

भा०—जिस पद में क्रिया हो वह वाक्य अन्यथा वाक्य नहीं बनता। पदों का अपने अर्थों से नित्य सम्बन्ध है। बिना पदार्थों के वाक्यार्थ कोई वस्तु नहीं, यह क्रिया पद से स्वयं बनता है अतः वेद वाक्य अपने अर्थ बोध कराने में अन्य के आश्रित नहीं। अतः वह स्वतः प्रमाण है।

सं०—पदों से पदार्थ ज्ञान सम्भव है न कि वाक्यार्थ का।

लोके सन्नियमात्प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ॥२६॥

प० क०—(लोके) यथालोक में (सन्नियमात्) नियम से सम्बन्ध होने से वेद में भी (प्रयोगसन्निकर्षः) गुरु परम्परा से पद पदार्थ सम्बन्ध जान कर वाक्यार्थ की उत्पत्ति (स्यात्) होती है।

भा०—पद एवं पद पदार्थ सम्बन्ध ज्ञान वाक्यार्थ ज्ञान का कारण है उसी प्रकार गुरु परम्परा से वेद में भी पद पदार्थ सम्बन्ध ज्ञान से सुख की कामना के लिये अग्नि होत्रादि कार्य हैं। क्योंकि वेद वाक्य अपकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य के बोधक हैं।

सं०—वेद वाक्य अपने अर्थ बोध कराने में अन्य की अपेक्षा नहीं रखते अतः स्वतः प्रमाण हैं और अपौरुषेय भी हैं।

वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः ॥ २७॥

प० क०—(च) और (एके) कोई २ (वेदान्) वेदों को अनित्य मानते हैं और (पुरुषाख्याः) बनाने वाले पुरुषों के नाम का (सन्निकर्ष) सम्बन्ध होने से।

भा०—वेदों में ऋषियों के नाम पाये जाने से प्रतीत होता है कि उन्हीं ऋषियों के बनाये हैं अतः अपौरुषेय नहीं। और भी हेतु है।

अनित्यदर्शनाच्च ॥ २८॥

प० क०—(च) और (अनित्य दर्शनात्) जन्म मरण धर्म वाले पुरुषों के नाम वेदों में हैं अतः वह पौरुषेय हैं।

भा०—ऐसे भी नाम आते हैं कि जिनका अस्तित्व इस भू-

मण्डल पर कभी भी न था अतः यह पीछे रचे गये हैं आदि सृष्टि में भी नहीं अतः पौरुषेय हैं।

सं०—समाधान करते हैं।

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ॥ २९ ॥

प० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष के खण्डनार्थ है (शब्द पूर्वत्वम्) वेद रूप शब्द में नित्यत्व (उक्तं) पूर्व ही कह आये हैं।

भा०—वेद को पिछले सूत्र में नित्य सिद्ध कर आये हैं पुनः उस के अनित्यत्व की शंका ही निरर्थक है। वेद अपौरुषेय एवं नित्य है अनित्य नहीं।

सं०—जिन व्यक्तियों के नाम वेद में हैं उनका कारण।

आख्याः प्रवचनात् ॥ ३० ॥

प० क्र०—(आख्याः) वेद में नामादि (प्रवचनात्) अध्ययन अध्यापन के कारण हैं।

भा०—जिस ऋषि ने जिस वेदमंत्र का चिरकाल तक अध्ययन अथवा अध्यापन कराया है वह उस के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

सं०—वेदों में अनित्य पुरुषों के नाम हैं इसका समाधान।

परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥ ३१ ॥

प० क्र०—(तु) किन्तु जो शब्द वेदों में तुग्र और मुज्युः आदि आये हैं वह (परं) केवल (श्रुतिसामान्यमात्रम्) शब्द सामान्य मात्र के अतिरिक्त कुछ नहीं।

भा०—इन शब्दों के अर्थ देखने से ज्ञात होता है कि यह नाम नहीं किन्तु शब्द मात्र हैं और यौगिक अर्थ को बतलाते हैं।

अतः वेद पौरुषेय नहीं।

सं०--वेद में जन्म मरण - शील मनुष्यों के नाम नहीं, तो भी प्रमाण नहीं हो सकते। क्योंकि उसमें असम्बद्ध बातें हैं यह भी कारण है।

कृते वा विनियोगस्स्यात्कर्मणः सम्बन्धात् ॥३२॥

प० क्र०--[वा] शब्दशङ्का निवारणार्थ है। (कृते) वहां यज्ञ कर्म करने के लिये [विनियोगः] प्रेरणा [स्यात्] है। [कर्मणः] यज्ञ रूप कर्म का [सम्बन्धात्] सम्बन्ध है।

भा०--वेदों में यज्ञ रूप कर्म करने की प्रेरणा है और कर्म का जीव के साथ सम्बन्ध भी है जैसे "यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञ मतन्वत" [अथर्व १९।१।६] विद्वानों ने परमात्मा की दी हुई वस्तु से यज्ञ को विस्तार दिया आदि असम्भव बातें नहीं किन्तु सार्थक कर्म करणीय है अतः वेद सर्वथा स्वतः प्रमाण है।

अथ मीमांसा दर्शने प्रथमाध्याये
प्रथम पादः समाप्तम् ॥

❀ अथ द्वितीय पादः प्रारभ्यते ❀

सं०--शब्द, शब्दार्थ और उसके सम्बन्ध को नित्य करते हुए वेद स्वतः प्रमाण बतलाये। अब कर्म के ठीक - ठीक अर्थ न देने वाले वाक्यों के सम्बन्ध में कहते हैं।

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्माद् नित्यमुच्यते ॥१॥

प० क्र०--[आम्नायस्य] वेद के [क्रियार्थत्वात्] कर्म का बोधक होने से वह [अतदर्थानां] जिनसे अर्थ बोध नहीं होता वह (आनर्थक्यम्) अर्थहीन कर्म हैं [तस्मात्] वह (अनित्यम्) अर्थात् अप्रमाण (उच्यते) कहे जाते हैं ।

भा०--कुछ ऐसे वाक्य वेदों में आते हैं कि जिनके अर्थ ही नहीं हैं । अतः यह दोष होने से प्राणी के लिये उपादेय नहीं क्योंकि उसमें कर्त्तव्य का उद्बोधन किया ही नहीं गया । अतः अप्रमाण है क्योंकि जिसमें वस्तु प्रयोग विधि नहीं और वस्तु स्वरूप मात्र बतलाये हैं वह सिद्धार्थ कहलाते हैं न कि अनर्थ वाक्य समूह ।

शास्त्रदृष्टविरोधाच्च ॥२॥

सं०--और भी कथन करते हैं कि :--

तथा फलाभावात् ॥ ३ ॥

प० क्र०--(फलाभावात्) सिद्धार्थ बोधक ज्ञान वाक्य से प्रवृत्ति निवृत्ति रूप कोई फल भी नहीं निकल सकता (तथा) अतः अप्रमाण है ।

भा०--जिन वाक्यों से पुरुष, प्रवृत्ति और निवृत्ति का ज्ञान प्राप्त करे वही प्रमाण है । सिद्धार्थ वाक्यों में यह कुछ नहीं होता ।

सं०--और भी हेतु है ।

अन्यानर्थक्यात् ॥ ४ ॥

प० क्र०-[अन्य अनर्थ क्यात्] अर्थ रहित होने से सिद्धार्थ बोधक वाक्य अप्रमाण हैं।

भा०-वेदों में जो वचन हैं उनका कुछ भी अर्थ नहीं। जब तक उनका विधान न बतलाया गया हो। केवल उपदेश से लाभ नहीं जब तक कि क्रिया करने की विधि न बतलाई जावे। वह वेदों में न होने से प्राणी को उससे कोई लाभ नहीं।

सं०-वाक्यों के अप्रमाण से भी।

अभागि प्रतिषेधाच्च ॥५॥

प० क्र०-[च] और [अभागिप्रतिषेधात्] अप्राप्त का निषेध करने से।

भा०-जो अनुपलब्ध उसका निषेध पाये जाने से सिद्धार्थ के बतलाने वाले वेद वाक्य अप्रमाण हैं।

सं०-और भी हेतु देते हैं।

अनित्यसंयोगात् ॥ ६ ॥

प० क्र०- [अनित्य संयोगात्] अनित्य जन्म मरण पदार्थों का वर्णन होने से।

भा०-वेदों में जरा जन्म मरण पुनर्जन्म अनित्य बातें हैं इस लिये भी अप्रमाण हैं।

सं०-इसका समाधान।

विधिनात्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधिनां स्युः ॥ ७ ॥

प० क्र०–[विधिना] विधि वाक्यों की [स्तुत्यर्थेन] पुरुष प्रवृत्ति अपेक्षित स्तुतियें [विधिना] विधिवाक्य मिश्रित [एकवाक्यत्वात्] एक वाक्यता से स्तुति विधान बोधक [स्युः] विधिवाक्य प्रमाण है [तु] अतः अप्रमाण नहीं हो सकते ।

भा०–विधि - वाक्य - कर्त्तव्यताबोधक वाक्य होते हैं न कि सिद्ध । परन्तु विधिवाक्य में पुरुष प्रवृत्ति आपेक्षित स्तुतियां होती हैं एवं सिद्ध वाक्यों में फलाकांक्षा होती है वह अतः फलवान विधिवाक्य से मिलकर आपेक्षित विधि में अर्थ की स्तुति करके कर्त्तव्यार्थ बतलाते हैं न कि सिद्धार्थ । यह वाक्यों से मिलाकर वाक्यता मिलती है अतः कोई अप्रमाण दोष नहीं आता क्योंकि विधि - वाक्य जिस कर्त्तव्य का अर्थ विधान करता है, उसी का सिद्धार्थ बोधक वाक्य भी समर्थन करता है, अतः विधिवाक्यवत् प्रमाण है ।

सं०–और भी प्रमाण देते हैं ।

तुल्यं च साम्प्रदायिकम् ॥ ८ ॥

प० क्र०–[च] और [साम्प्रदायिकम्] सृष्टि काल से [तुल्यं] समान है ।

भा०–सृष्टि के आरम्भ से विधि और सिद्ध वाक्यों की गुरुशिष्य परम्परा होने से भी समान रीति से प्रमाण हैं ।

सं०–शास्त्र विरोध का परिहार करते हैं ।

अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधस्स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत ॥ ९ ॥

प० क्र०–[प्रयोगेहि] स्थूल दृष्टि से समझ में आने वाले अर्थ में वाक्यार्थ होने से [विरोधः] विरोध [स्यात्] होवे

परन्तु [शब्दार्थस्तु] यह अर्थ तो [अप्रयोगभूतः] वाक्यार्थ विषयहीन होने से अन्य अर्थों का द्योतक है (तस्मात्) इस कारण (अनुपपत्तिः) वेद वाक्यों का पारस्परिक विरोध युक्त अनुपपत्ति दोष (अप्राप्ता) न होने से भी कारण कि (उपपद्यते) उक्त वाक्य का विरोध रहित अर्थ है।

भा०—वेद वाक्यों में ऐसा विरोध दीखने से कि कहीं ईश्वर को कहा कि यह सब पुरुष हैं और "कहीं यह सब उसकी महिमा है" यह स्थूल दृष्टि से ही है क्योंकि वहां यह नहीं कहा गया कि "बस इतना ही पुरुष" है और है ही नहीं। किन्तु कहा तो यह है कि यह सब पुरुष विभूति होने से है। अतः तात्पर्य्य का विषयीभूत अर्थों का अन्तर होने से वाक्यों का कोई परस्पर विरोध नहीं। अतः कोई वाक्य-प्रमाण हीन भी नहीं।

सं०—सिद्धार्थ बोधक वाक्यों में विधेयार्थ वाक्यों की प्रशंसा से विधि वाक्य युक्त वाक्य से अर्थ करना यह ठीक नहीं क्योंकि भिन्नार्थ के बोधक होने से और सब विधेयार्थ की ही प्रशंसा न करने से शंका होती है।

गुणवादस्तु ॥ १० ॥

प० क्र०—(तु) शब्द शंका परिहारार्थ है (गुणवादः) जो स्तुतिवाद बतलाया है वह गुणवाद है।

भा०—सिद्धार्थ बोधक वाक्यों से सर्वत्र विधेयार्थ की स्तुति पाई जाती है यह गुणवाद ही है मुख्य वाद नहीं। क्योंकि कहीं यह विधेयार्थ का स्तवन करते हैं और कहीं उससे भिन्नार्थ का भी कथन करते हैं अतः दोष नहीं।

सं०—वेदों में ब्राह्मणादि चारों वर्णों को परमात्मा का अङ्ग

बतलाया है यह समीचीन नहीं क्योंकि वह अशरीरी है उसमें अवयव नहीं।

रूपात्प्रायात् ॥ ११ ॥

प० क्र०—(प्रायात्) बहुधा वेदों में (रूपात्) रूपक अलंकार से वर्णन है।

भा०—जहां २ मुखादि अवयव से परमात्मा का निरूपण वेदों में है वह रूपकालंकार से है। वास्तव में उसका शरीरी वर्णन अशरीरी के समान निर्दोष है।

सं०—इसमें तो प्रत्यक्ष विरोध है।

दूरभूयस्त्वात् ॥ १२ ॥

प० क्र०—(दूरभूयस्त्वात्) स्थूलार्थ करने से नेत्र और सूर्य की दूरी अर्थात् कारण कार्य भाव असम्भव प्रतीत होगा।

भा०—जहां कहा है कि उस परमात्मा के नेत्रों से सूर्योत्पत्ति हुई यह स्थूल करना प्रत्यक्ष विरोध का प्रमाण है क्योंकि नेत्रों से सूर्य जैसे दिव्य पदार्थ की उत्पत्ति असम्भव है केवल वहां यही अर्थ है कि परमात्मा के चक्षु सदृश दिव्य सामर्थ्य से सूर्योत्पत्ति हुई इस अर्थ में विरोध भी नहीं आता।

सं०— उसकी यदि चक्षुसदृश दिव्य सामर्थ्य से सूर्योत्पत्ति माने तो फिर यह क्यों कहा कि वह चक्षुसदृश कार्य है।

अपराधात्कर्त्तुश्च पुत्रदर्शनम् ॥ १३ ॥

प० क्र०—(अपराधात्) स्थूल दृष्टि के अपराध से (कर्त्तुः) अजायत क्रिया के कर्त्ता सूर्य का (पुत्रदर्शनम्) पुत्र अर्थात्

कार्य रूप से (च) चक्षु का कारण रूप से दर्शन होता है।

भा०—चक्षु और सूर्य परस्पर पिता पुत्र अथवा चक्षः सूर्य का कारण अथवा सूर्य चक्षु का कार्य नहीं किन्तु परमात्मा सर्व पिता है और केवल स्थूल दृष्टि से सूर्य चक्षु का कार्य प्रतीत होता है यथार्थ में ऐसा है नहीं।

आकालिकेप्सा ॥ १४ ॥

प० क्र०—(आकालि केप्सा) एक ही काल में प्राणी मात्र की मोक्ष की इच्छा पाये जाने से।

भा०—प्राणी मात्र मृत्यु से पार होना चाहता है इसलिये वेदों ने बतलाया है कि बिना उसे जाने अन्य कोई मुक्ति मार्ग नहीं है। इस वाक्य में सब फलों के महान फल मुक्ति का वर्णन है न कि कर्म जन्य फल को निस्सार कथन के अभिप्राय से कहा है।

सं०—इसमें युक्ति यह है।

विद्याप्रशंसा ॥ १५ ॥

प० क्र०—(विद्या प्रशंसा) विद्या का यश होने से।

भा०—वेद वाक्यों में बिना उसके जाने मृत्यु से पार होना कठिन है आदि में जो मृत्यु को पार करना ब्रह्म विद्या का फल कहा है इससे तो महत्त्व बढ़ता है न कि अन्य फलों के बोधक वेद वाक्यों की निरर्थकता है। अर्थात् जिस २ कर्म का जो - जो फल वेद वाक्य बतलाता है वह अवश्य कर्त्तव्य कर्म है और उसका फल भी है परन्तु मोक्ष प्राप्ति ब्रह्म विद्या से ही होती है जो वेदों में ही बतलाई हैं अतः कर्म करो।

सं०—किसी वर्ण विशेष को मोक्ष विद्याधिकार है अथवा सब को।

सर्वत्वमाधिकारिकम् ॥१६॥

प० क्र०—(अधिकारिकम्) ब्रह्म कर्म का अधिकार (सर्वत्वम्) सब को एकसा है।

भा०—मृत्यु से सब छूटना चाहते हैं उसका उपाय एक ब्रह्म विद्या ही है और जब ब्रह्म ज्ञानी हो जाता है तो परमात्मानिष्पन्न हैं और यह समानाधिकार का उपदेश ब्रह्म की ही ओर है उसके समान भाव से सब को अधिकार कहा गया है।

सं०—ब्रह्म विद्या द्वारा मृत्यु से छुटकारा नहीं किन्तु वेदोक्त कर्म करने से ही होता है।

फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिणामतः फलविशेषस्स्यात् ॥१७॥

प० क्र०—(फलस्य) फल विशेष की (निष्पत्तेः) कर्म से सिद्धि होने से मृत्यु से छुटकारा नही (तेषां) उनके कर्मों का (फल विशेषः) विशेष फल है (स्यात्) है वह (लोकवत्) सांसारिक कर्म जन्य फल समान (परिणामतः) बदलने वाला है।

भा०—सांसारिक कर्म परिणामी (बदलने वाले) हैं इसी भांति वैदिक कर्मफल भी परिछिन्न हैं। इन दोनों में भेद यह है कि सांसारिक कर्मफल स्थायी नहीं और वैदिककर्म चिरकाल ठहरे रहते हैं।

अन्त्ययोर्यथोक्तम् ॥१८॥

प० क्र०—(अन्त्ययोः) पांचवें और छठवें सूत्र में अन्त के दोनों पूर्व पक्षों का समाधान किया गया है (यथोक्तम्) उसी प्रकार समझना चाहिये।

भा०—जैसे छठे सूत्र का समाधान पूर्व पाद के ३१ वें सूत्र में किया है वैसे पांचवें सूत्र का समाधान यह है कि परमात्मा की मूर्त्ति किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती परन्तु चेतनता रूपधर्म की तुल्य योग्यता से जैसे जीव का मूर्त्ति (शरीर) अल्पज्ञों ने माना है उसी प्रकार ईश्वर की मूर्त्ति कल्पना भी करली है। अन्यथा वेद ईश्वर की (प्रतिमा) नहीं मानते जैसे "न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः।

सं०—अति स्पष्ट अर्थ बोधक सिद्धार्थ वेद वाक्यों को प्रामाणिक मानने के हेतु कहते हैं।

विधिर्वा स्यादपूर्वत्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकम् ॥१६॥

प० क्र०—(व) पूर्व पक्ष प्रति पादक है (विधिः) स्पष्ट अर्थ वाले वाक्यों में सिद्धार्थ बोधक विधि की क्रिया (स्यात्) है क्योंकि (अपूर्व त्वात्) क्योंकि उनका भी अपूर्व ही अर्थ विधि वाक्य समान है। यदि उन्हें (वाद मात्रं हि) केवल सिद्धार्थ बोधक मात्र ही मानेंगे तो वह (अनर्थ कम्) अप्रमाण हो जावेंगे।

भा०—यजुर्वेद अ० ३२। १ के इस मन्त्र में कि "वह परमात्मा अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आप और प्रजापति हैं उसी की उपासना करो। यह वाक्य तो हो गये परन्तु इसकी विधि कल्पना किये बिना अपूर्व अर्थ का लाभ कैसे होगा अर्थात् विधि कल्पना अवश्य होनी चाहिये और यदि

वाक्यों का लाभ नहीं लेना है केवल वाद (कथन) मात्र ही मानलें तो वह निरर्थक अप्रमाण हो जावेंगें परन्तु बुद्धि पूर्वक कहे गये वाक्य निरर्थक और अप्रमाण नहीं कहे जा सकते अतः विधि कल्पना होनी ही चाहिये।

सं०—अब सिद्धान्त सम्बन्धी आशंका करते हैं।

लोकवदिति चेत् ॥२०॥

प० क्र०—[लोकवत्] यह कथन सांसारिक कथन के समान है इसलिये विधि - कल्पना व्यर्थ है [चेत्] यदि [इति] निश्चय पूर्वक नहीं।

भा०—जैसे संसार में जब कोई वस्तु क्रय - विक्रय में आती है, तब उसकी प्रशंसा और मूल्य निश्चित् होता है इसी प्रकार यजुर्वेद के इस मन्त्र में केवल स्तुतिवाद मात्र है अतः विधि कल्पना की आवश्यकता नहीं।

सं०—इस शंका का समाधान यह है।

न पूर्वत्वात् ॥२१॥

प० क्र०—[न] यह कथन ठीक नहीं इसलिये कि [पूर्वत्वात्] सांसारिक स्त्युत्यवाक्यों में प्रसिद्धार्थ ही कहा जाता है किसी अलौकिक अर्थ का कथन नहीं होता।

भा०—यजुर्वेद वाक्य में जो अपूर्व (अलौकिक) अर्थ है वह सांसारिक वाद में नहीं है अतः लौकिकः से विलक्षण अर्थ कथन होने से विधि-कल्पना अनिवार्य है।

सं०—इसका समाधान यह है।

उक्तं तु वाक्यशेषत्वम् ॥ २२ ॥

प० क्र०—'तु' पद पूर्वपक्ष हटाने को है। (वाक्य शेषत्वम्) ऐसे सिद्धार्थ बोधक वाक्यों को विधि वाक्यों का अंग उक्त कहा गया है।

भा०—सिद्धार्थ बोधक वाक्य विधान किये गये अर्थ की प्रशंसा द्वारा विधि वाक्य का अंग बन कर अर्थ बोध कराते हैं उसी प्रकार अति स्पष्ट अर्थ वाले सिद्धार्थ बोधक वचन भी विधि वाक्य का अंग होकर अर्थ बोध कराते हैं वहां विधि कल्पना अत्यावश्यक होती है।

सं०—इसमें यह युक्ति है।

विधिश्चानर्थकः क्वचित्तस्मात् स्तुतिः प्रतीयेत तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम् ॥२३॥

प० क्र०—(च) यदि (विधिः) उसमें विधि कल्पना की जाय तो वह उन वाक्यों में (अनर्थकः) अर्थ नहीं देगी क्योंकि (क्वचित्तस्मात्) सिद्धार्थ बोधक वाक्यों से कहीं २ स्पष्ट रूप से प्रशंसा (प्रतीयेत) पाई जाती है (तत्) अतः (सामान्यात्) सब वाक्यों के समान होने से जिन में स्पष्ट स्तुति नहीं पाई जाती (इतरेषु) उन वाक्यों में भी (तथात्वम्) विधि की अपेक्षा स्तुति कल्पना अति श्रेष्ठ है।

भा०—कहीं कहीं स्पष्ट स्तुति पाई जाती है और विधि नहीं प्रतीत होती। अतः जहां स्पष्ट रूप से स्तुति न मिले वहां सिद्धार्थ बोधक वाक्य की भांति स्तुति कल्पना करना लघुपन है उससे तो वाक्यों में विधि की कल्पना कर लेना चाहिये अतः विधि कल्पना से स्तुति कल्पना श्रेष्ठ है।

सं०—पुनः उक्ति देते हैं।

प्रकरणे सम्भवन्नपकर्षो न कल्प्येत विध्यानर्थक्यं हि तं प्रति ॥२४॥

प० क्र०—(प्रकरणे) जिस प्रकरण का वाक्य है उसमें (अपकर्षः) स्तुति (सम्भवत्) स्पष्ट पाये जाने से (नकल्प्येत्) विधि करना नहीं चाहिये (हि) क्योंकि [तम्प्रति] उस स्तुति के सम्मुख [विध्यानर्थक्यं] विधि कल्पना वृथा है।

मा०—वाक्य जिस कथन के उद्देश्य से है उससे भिन्न अर्थ का वह कदापि नहीं कहता, जो प्रकरण के देखने से प्रतीत होता है। जहां प्रकरण में उपासना विधि में उपास्य परमात्मा की स्तुति का सिद्धार्थ बोधक वाक्य विस्पष्ट रूप से निरूपण कर रहे हैं। वहां विधि कल्पना अप्रासंगिक है वहां तो उपासना विधि ही अंग मान कर विहित कर्म [अर्थ] की स्तुति कल्पना ही उत्तम है।

सं०—विधि कल्पना से ऐसे स्थानों में दोष आता है।

विधौ च वाक्यभेदः स्यात् ॥ २५ ॥

प० क्र०—[च] तथा [विधौ] उन वाक्यों में विधि कल्पना करने से [वाक्य भेदः] अर्थ भेद से वाक्य भेद [स्यात्] हो जावेगा।

मा०—जिन मन्त्रों में परमात्मा की अपरिमित शक्तियों का वर्णन है यदि उन में विधि कल्पना की जावेगी तो वह स्तुति उससे भिन्न विहित कर्मों का भी निरूपण करेंगे परन्तु ऐसा करने से वहां वाक्य भेद रूप दोष आता है। क्योंकि नियम यह है कि शब्द, ज्ञान, और क्रिया एक ही कार्य को करते हैं अन्य को

नहीं अर्थात् जिस शब्द से जो अर्थ निकला अथवा जिस ज्ञान से जो अर्थ जाना अथवा जिस क्रिया से जो कार्य सिद्ध किया वह एक शब्द अन्य अर्थ को नहीं कहेगा, न ज्ञान ही दूसरे अर्थ का बोधक होगा, न क्रिया ही अन्य कार्य की साधिका होगी। अत: विधि वाक्य कल्पना न करके विधि वाक्य का अङ्ग मानना ही श्रेष्ठ है।

सं०—हेतु पद सिद्धार्थ बोधक वाक्यों को प्रमाणित करते हैं।

हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम् ॥२६॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष का द्योतक है (हेतु.) तृतीयाविभक्ति वाले पद के अर्थ का बोधक (स्यात्) हैं क्योंकि (अर्थ वत्त्वोपपत्तिभ्यां) वह वाक्य अर्थ एवं उपपत्ति वाले हो सकते हैं अन्यथा नहीं।

भा०—यजुर्वेद अध्याय ३१।१६ में 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' इसमें तृतीय विभक्ति युक्त 'यज्ञेन' इस वेद वाक्य में यह कहा गया कि 'यज्ञ से यज्ञ रूप परमात्मा का पहले विद्वान् पूजन करते थे तो क्या यहां परमात्म पूजन का यज्ञ साधन है। यजुर्वेद अ० ।४० । २ में कुर्वन्नेवेहकर्माणि" इस मन्त्र में कि वेद विहित कर्मों को करता हुआ मनुष्य १०० वर्ष जीने की इच्छा करे। इस कार्य विधि से विहित यज्ञादि रूप कर्म विधान की स्तुति करते हैं। इन दोनों मन्त्रों में स्पष्ट बता दिया एक मन्त्र "यज्ञ रूप परमात्मा के पूजन का साधन यज्ञ है यह मानना है। और यह हेतुक अर्थ सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को सार्थक बनाता है परन्तु दूसरे में केवल वेद विहित कर्मों के करने का आदेश मात्र किया वहां कोई विधि नहीं यज्ञ अर्थात्

परमात्मा के पूजन का साधन है। यह विधि वाक्य है और विषय एवं प्रकरण अनुकूल है। दूसरा मन्त्र उसी कर्म को १०० वर्ष तक करने का आदेश करता है परन्तु साधन विधि उसमें नहीं बतलाई। इसलिये मन्त्र का प्रकरणानुकूल ही अर्थ किया जाना चाहिये।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य ॥२७॥

प०क्र०—'तु' पूर्व पक्ष के हटाने को आया है। (स्तुतिः) ऐसे वाक्य में कर्म-विधि से विहित कर्त्तव्य कर्म यज्ञादि कर्मों का महत्व बतलाते हैं। क्योंकि स्तुति महत्वार्थ (शब्द पूर्व त्वात्) साधन विधि के अनुकूल ही होगा। (च) और ऐसे वाक्यों में (तस्य) यज्ञ की (अचोदना) प्रेरणा अथवा विधि नहीं बतलाई।

भा०—परम्परा के शिष्टाचार से यज्ञ की प्राप्ति है अतएव उसे कर्त्तव्य कर्म कहा है वहां साधन स्वीकार करने के स्थान में ऐसे वाक्यों में स्तुति अथवा महत्व ही मानना उत्तम है क्योंकि 'कुर्वन्नेवेह' इस मन्त्र में कर्म विधि कही गई है उसमें केवल पुरुष प्रवृत्ति के लिये प्रेरणा है और इसी अर्थ से संगति बैठती भी है क्योंकि जहां यज्ञादि रूप कर्मों के महत्व कहे गये हैं वहां यज्ञ को परमात्मा के पूजन का साधन भी बतलाया होता है अतः 'साधन' के स्थान में स्तुति मानना ही समीचीन है।

सं०—इसमें यह सन्देह रहता है।

अर्थे स्तुतिरन्याय्येति चेत् ॥२८॥

प० क्र०—(अर्थे) फल न होने से (स्तुतिः) महत्व कल्पना (अन्याय्या) न्याय युक्त नहीं (चेत्) यदि (इति) है तो ठीक नहीं।

भा०—जिस वाक्य में स्तुति का फल न दिखाई दे उसकी कल्पना करना व्यर्थ है।

सं०—इसका समाधान।

अर्थस्तु विधिशेषत्वाद्यथा लोके ॥२६॥

प० क्र०—'तु' पद शंका निवारणार्थ है (विधिशेषत्वात्) ऐसे वाक्यों का विधि वाक्य का अंग होना ही (अर्थः) स्तुति की कल्पना का फल है (यथा) जिस प्रकार (लोके) सांसारिक वाक्यों में विधि वाक्य का अंग होना स्तुति का फल है।

भा०—जिस प्रकार विधेय अर्थ के महत्व को बतलाने वाले सिद्धार्थ बोधक वाक्य विधि वाक्य का अंग कहे जाते हैं उसी प्रकार वेद में भी हैं अतः वेदों में स्तुति कल्पना कोई व्यर्थ की बात नहीं क्योंकि ऐसे वाक्य विधि वाक्य के अंग होने से ही अर्थ वाले होते हैं।

सं०—ऐसा मान लेने पर युक्ति देते हैं।

यदि च हेतुरवतिष्ठेत निर्देशात्सामान्यादिति चेदव्यवस्था विधिनां स्यात् ॥३०॥

प० क्र०—(च) और यदि (हेतुः) उक्त तृतीया विभक्ति युक्त यज्ञेन हेतु वाक्य में जहां यज्ञ को ही पूजन का साधन कहा था माना जाय तो उसका साधक के अभाव से ठहरना असंभव है अतः

(निर्देशात् सामान्यात्) तृतीय विभक्ति रूप सामान्यनिर्देश से (अवतिष्ठेत्) ठहरनेवाला (चेत्) यदि (इति) तो (विधिनां) विधि और अविधि की (अव्यवस्था) अस्तव्यस्तता (स्यात्) होगी।

भा०-इस वचन में यज्ञ को साधन रूप विधान मात्र कहा है परन्तु उसका साधक नहीं बतलाया।

सं०-वेद मन्त्रों का पठन पाठन मात्र पुण्य है अथवा अर्थ सहित स्वाध्याय का भी विधान है।

तदर्थं शास्त्रात् ॥३१॥

प० क्र०-(तत्) वेदों का अर्थ सहित स्वाध्याय करना क्योंकि (अर्थं शास्त्रार्थं) वेद मनुष्य मात्र के लिये पुरुषार्थ चतुष्टय का विवेचन करता है।

भा०-धर्म अर्थ काम और मोक्ष कैसे प्राप्त हो इसके लिये ही वेद का प्रकाश हुआ है यदि वेद अर्थ सहित न पढ़ा गया तो मनुष्यों को चारों फलों की प्राप्ति के उपाय कैसे प्राप्त होंगे इसलिये अर्थ सहित वेदाध्ययन करना चाहिये।

सं०-इसमें एक हेतु और भी है।

वाक्य नियमात् ॥३२॥

प० क्र०-(वाक्य नियमात्) प्रत्येक मन्त्रों के साथ ऋषियों का नाम पाये जाने से वेदों का अर्थ सहित ही स्वाध्याय ठीक है।

भा०-जो वेदमन्त्रों के साथ ऋषि हैं उन का यह अर्थ है कि अमुक ऋषि ने विधिवत् मन्त्रों को विचार कर प्राणियों के

कल्याण के लिये विस्तार किया । ऋषि का अर्थ मन्त्र दृष्टा है ।

सं०—इसमें दूसरा हेतु भी है ।

बुद्धशास्त्रात् ॥३३॥

प० क्र०—(बुद्ध शास्त्रात्) ज्ञान को देने वाला वेद ही एक शास्त्र है । उसका अर्थ सहित ही स्वाध्याय करना चाहिये ।

भा०—वेद ही एक मात्र ऐसा है कि जिसने आदि सृष्टि में मनुष्य को ज्ञान दिया अतः उसका अर्थ सहित स्वाध्याय होने से ही ज्ञान का प्रकाश संसार में फैल सकता है ।

सं०—इसमें पूर्व पक्ष यह है कि:—

अविद्यमानवचनात् ॥३४॥

प० क्र०—(अविद्यमानवचनात्) अर्थ सहित स्वाध्याय करना आवश्यक नहीं क्योंकि उन में अविद्यमान पदार्थों का वर्णन है ।

भा०—वेदों में कुछ ऐसे भी पदार्थों का वर्णन है कि जिनके ज्ञान से मनुष्य को कोई लाभ नहीं जैसे ऋग्वेद ८।४। १७। के 'सहस्र शीर्षा पुरुषः' में कहा कि उसके हजार सिर, हजार पांव और हजार आंखे हैं अतः अर्थ सहित पठन पाठन से क्या लाभ ! इसमें संख्या दोष भी है। जब हजार सिर होंगे तो दो हजार आंखे होगी वहां हजार आंखे ही कही हैं ।

सं०—और भी हेतु देते हैं ।

अचेतनेऽर्थबन्धनात् ॥३५॥

प० क्र०—(अचेतने) जड़ पदार्थों में (अर्थ बन्धनात्) अपने अर्थ से बंधे हुए वेद पठन पाठन के योग्य नहीं।

भा०—ऋग्वेद ८।४।११।२३ में इस मन्त्र का कि "त्वमुत्तमा स्योषधे" अर्थात् हे औषधि तू श्रेष्ठ है इस औषधि रूप जड़ पदार्थ को सम्बोधन करके प्रतिपादन किया हुआ अर्थ सर्वथा असंगत होता है। संसार में चेतन पदार्थ को सम्बोधन किया करते हैं जड़ को नहीं अतः अर्थ सहित अध्ययन से क्या।

सं०—तीसरा हेतु और भी दिया जाता है।

अर्थविप्रतिषेधात् ॥३६॥

प० क्र०—(अर्थ विप्रतिषेधात्) परस्पर विरोध अर्थ का कथन करने से भी वेद का अर्थ सहित पठन पाठन ठीक नहीं।

भा०—ऋग्वेद १।६।१६।१० इस मन्त्र में कि "अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्षम्" में जो यह बताया कि 'अदिति ही द्यौ है और वही अन्तरिक्ष है इसमें परस्पर विरोध मिलता है क्योंकि द्यौ ही अन्तरिक्ष है यह कैसे हो सकता है। अन्तरिक्ष और द्यौ में बड़ा अन्तर है अतः अर्थ सहित पठन-पाठन से कोई लाभ नहीं।

सं०—और भी हेतु देते हैं।

स्वाध्यायवदवचनात् ॥३७॥

प० क्र०—(स्वाध्याय वद वचनात्) वेद के पठन पाठन का जिन वाक्यों में विधान है उनके अर्थ सहित पठन-पाठन

का भी विधान नहीं मिलता। इस कारण अर्थ सहित पठन पाठन ठीक नहीं।

भा०—उपनिषदों में आया है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' मनुष्य मात्र को वेद पढ़ना चाहिये। इस पठन पाठन के आदेश में भी अर्थ सहित पाठ का आदेश नहीं है अतः विधान रहित अर्थ युक्त पठन पाठन अनावश्यक ही है।

सं०—और भी हेतु देते हैं।

अविज्ञेयात् ॥ ३८॥

प० क्र०—(अविज्ञेयात्) वेदों के अर्थ भी जानने योग्य न होने से अर्थ सहित पठन पाठन वृथा है।

भा०—वेदों में आदि अनेक ऐसे मन्त्र हैं कि जिनका कोई अर्थ ही नहीं बनता अतः अर्थ सहित स्वाध्याय ठीक नहीं।

सं०—इसमें एक हेतु यह भी है।

अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् ॥३९॥

प० क्र०—(अनित्यसंयोगात्) अनित्य पदार्थों में जैसे जन्म मरण जरा यौवन आदि पदार्थों का सम्बन्ध मिलने से (मनर्थक्यम्) मन्त्रों का अर्थों सहित पाठ करना निरर्थक है।

भा०—वेदों में देशों और मनुष्यों के नाम दीखते हैं इसलिये ईश्वरोक्त होने में भी सन्देह है अतः वेदों का अर्थ सहित पठन-पाठन वृथा ही है।

सं०—इन हेतुओं का समाधान देते हैं।

अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥४०॥

प० क्र०—'तु' पद पूर्व पक्ष के निषेध के लिये है (अवि-शिष्टः) लोक और वेद में (वाक्यार्थ) वाक्य के अर्थ का ज्ञान एक सा ही माना जाता है।

भा०—लोक और वेद में वाक्य के अर्थ का एक सा ही ज्ञान होता है जैसे लोक में यौगिक शब्दार्थ धातु आदि प्रत्यय के ज्ञान से जाने जाते हैं उसी प्रकार वेद में भी ऐसा ही है। अतः अर्थ सहित पठन पाठन से ही लाभ होता है इस कारण अर्थ सहित वेदों का स्वाध्याय लाभ-दायक है।

सं०—अर्थ सहित पठन पाठन में और भी हेतु देते हैं।

गुणार्थेन पुनः श्रुति ॥४१॥

प० क्र०—(श्रुतिः) वेद (पुनः) यतः (गुणार्थेन) अनेक गुण वाले अर्थों से युक्त हैं अतः उनका पठन पाठन अर्थ युक्त होना चाहिये।

भा०—वेद का एक एक शब्द अनन्त लाभदायक है, वह सब सत्य विद्याओं का भंडार है अतः जब तक उसे अर्थ सहित न पढ़ेंगे उससे लाभ ही क्या होगा अतः वेद को अर्थ सहित ही पढ़ाना चाहिये।

सं०—इसी को पुनः कहते हैं।

परिसंख्या ॥४२॥

प० क्र०—(परिसंख्या) वेद का अर्थ सहित पठन पाठन होने कर्त्तव्य कर्मों का ज्ञान और अकर्त्तव्य कर्मों के त्याग का

पता लगता है।

भा०—सुख दुःख कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य कर्मों पर निर्भर है। कौनसे शुभ और कौन से अशुभ कर्म हैं इसका बिना सर्वज्ञ ईश्वर के उपदेश किये बोध नहीं हो सकता। अतः कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्मों के ग्रहण तथा त्याज्य के ज्ञानार्थ वेद को अर्थ सहित ही पढ़ना चाहिये।

सं०—इस पर यह आपत्ति की जाती है।

अर्थवादो वा ॥४३॥

प० क्र०—' वा ' आशंका निमित्त प्रयोग किया गया (अर्थवादः) यह अर्थवाद है कि शुभ कर्म करने से सुख और अशुभ से दुःख होता है।

भा०—यह कहना ठीक नहीं कि सुख दुःख शुभाशुभ कर्मों पर आधारित हैं क्योंकि लोक में इसके विपरीत देखा गया है।

इस शंका का उत्तर यह है।

अविरुद्धं परम् ॥४४॥

प० क्र०—(अविरुद्धं) शुभाशुभ कर्मों के करने से दुःख अथवा सुख होता है यह बात लोक और वेद से सम्मत है। अतः यह बात उत्तम होने से ग्रहण करने योग्य है।

भा०—इसे अर्थवाद नहीं कहा जा सकता कि शुभ कर्म से सुख और अनिष्ट कर्म से दुःख होता है क्योंकि वेद में तो उपदेश और आप्त पुरुषों में इसका आचरण मिलता है इसलिये इष्ट कर्म लाभदायक और अनिष्ट हानि-

कर है।
सं०—एक और समाधान करते हैं।

संप्रैषे कर्मगर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात् ॥४५॥

प० क्र०—(संप्रैषे) वेद के हजार सिर और हजार नेत्र वाले मन्त्र में (कर्म गर्हानुपलम्भः) अविद्यमान अर्थों का कहना कोई दोष नहीं क्योंकि (संस्कारत्वात्) वह मनुष्य बुद्धि को सुसंस्कृत करने के लिये कहा गया है।
भा०—वेद में मुख्य और गौण अर्थों को लेकर उपदेश किया गया है और यही कारण है कि उसमें अविद्यमान अर्थों का भान होता है वास्तव में ऐसा है नहीं। अतः वेद को अर्थ सहित ही पढ़ने से यह भ्रम दूर हो सकता है।
सं०—एक और समाधान करते हैं।

अभिधानेऽर्थवादः ॥४६॥

प० क्र०—(अभिधाने) जो अचेतन पदार्थों को सम्बोधन करके कहा गया है उसमें तो (अर्थवादः) अर्थवाद है।
भा०—जहां यह आवे कि हे सोम औषधे! तू सब औष-धयों में उत्तम है। इसे जड़ से बातचीत करना नहीं कहा जाता किन्तु सोम औषधि के उत्तम गुणों का वर्णन करना है क्योंकि श्रवण इन्द्रिय हीन होने से जड़ में कोई सम्बोधन नहीं हो सकता।
सं०—अतः समाधान करते हैं।

गुणादप्रतिषेधः स्यात् ॥४७॥

प० क्र०—(अप्रतिषेधः स्यात्) अर्थों में कोई परस्पर विरोध नहीं (गुण) वृत्ति से।
भा०—वेद में यह कहा गया कि अदिति ही द्यौ है और

अन्तरिक्ष है इस गुण वृत्ति से अनेकार्थ का कथन किया जा सकता है जैसे लोक में एक शब्द अनेकार्थ ध्वनि का शब्द होता है यथा हरि, कपि सैन्धव, आदि होने से परस्पर अनेक अर्थों के यथास्थान संगति करने से होते हैं वैसे ही वेद में जानने चाहिये ।

सं०—पुनः समाधान करते हैं ।

विद्यावचनमसंयोगात् ॥४८॥

प० क्र०—(विद्याऽवचनम्) विधि में अर्थ सहित पठन पाठन का न कहा जाना यह (असंयोगात्) उसके वचन की अप्राप्ति के ही कारण है ।

भा०—यदि विद्या में अर्थसहित पठन पाठन का विधान नहीं है तो उसका यह भाव लेना कि वेद अर्थ सहित न पढ़ा जावे ठीक नहीं क्योंकि अध्ययन शब्द का अर्थ ही, अर्थ सहित पठन-पाठन है ।

सं०—एक और समाधान करते हैं ।

सतः परमविज्ञानम् ॥४९॥

प० क्र०—(अविज्ञानम्) जिन मन्त्रों में अर्थ का अविज्ञान बतलाया है वह (सतः परं) विद्यमान अर्थ का ही जानना है ।

भा०—जहां वेदों में अर्थ समझ में न आवे वहां अपनी अविद्या ही समझनी चाहिये मन्त्रों का कोई दोष नहीं क्योंकि उनके अर्थ हो सकते हैं और उनके अर्थ बुद्धि पूर्वक हैं ।

सं०—पुनः समाधान करते हैं ।

उक्तश्चाऽनित्यसंयोगः ॥५०॥

प० क्र०—(अनित्य संयोगः) जन्म मरण वाले विषय वेद में हैं इसका समाधान (उक्तं च) पीछे और भी कह ही दिया है।

भा०—वेदों में जहां मनुष्य अथवा गांवों के नाम आये हैं वह सामान्य संज्ञा है किसी व्यक्ति विशेष वा ग्राम विशेष को लक्ष्य करके नहीं कहे गये हैं और ऐसा ही सर्वत्र जानना चाहिये।

सं०—अब स्वपक्ष परिपुष्ट करने को युक्ति देते हैं।

लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत् ॥५१॥

प० क्र०—(लिङ्गोपदेशः) वेद मन्त्र में परमात्मा के चिन्हों का वर्णन आया है वह (च) और भी (तदर्थवत्) उसे (वेद) को अर्थ सहित पढ़ने पढ़ाने का साधक समझना चाहिये।

भा०—यजुर्वेद ४०।४ में बतलाया है कि " वह कभी कंपन नहीं करता तथा एक ही है" इसमें अकंपन और एक ही है यह दो विशेषण परमात्मा के लिये होने से बिना अर्थ सहित वेद कैसे जाने जा सकते हैं और उनके अज्ञान से विशेष्य का भी ज्ञान नहीं हो सकता।

सं०—पूर्वोक्त अर्थ में युक्ति देते हैं।

ऊहः ॥५२॥

प० क्र०—(ऊहः) तर्क से भी।

भा०— ऋग्वेद में कहा गया है कि वह परमात्मा प्राणदाता और

पिता है। प्रश्न यह है कि जो प्राण दाता नहीं वह पिता भी नहीं हो सकता। अब इसका स्पष्ट कार्य बिना तर्क के नहीं हो सकता। अतः वेदों को अर्थ सहित ही पढ़ना चाहिये।

सं०—पुनः और भी युक्ति देते हैं।

विधिशब्दाश्च ॥५३॥

प० क०—(विधि शब्दाः विधि) विधि वाक्यों (च) में भी वेदों के अर्थ सहित पढ़ने पढ़ाने की आज्ञा पाई जाती है।

भा०—यजुर्वेद में सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीते रहने की आज्ञा हैं। यह ज्ञान तब तक न हो सकेगा कि जब तक अर्थ सहित विधि विधान युक्त कर्मानुष्ठान न किया जावेगा। परन्तु यह सब वेद के अर्थ सहित पठन पाठन से ही जाना जा सकता है अन्य किसी प्रकार से नहीं।

इति मीमांसादर्शने प्रथमाध्यास्य द्वितीयः पादः।



* ओ३म् *

अथ प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादः प्रारभ्यते ।

सं०—वेद स्वतः प्रमाण है अतः वेद को अर्थसहित पढ़ना पढ़ाना चाहिये । अब शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदानुकूल होने से प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाणिकता के लिये कहते हैं ।

धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात् ॥१॥

प० क्र०—(धर्मस्य) धर्म में (शब्दमूलत्वात्) केवल वेद की प्रामाणिकता से (अपशब्दम्) उससे भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थ (अनपेक्ष्यं, स्यात्) अप्रमाण हैं ।

भा०—जब वेद स्वतः प्रमाण हैं और धर्म में केवल वही प्रामाणिक हैं तो फिर उससे भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थ प्रमाण न न होने से अप्रमाण हैं ।

सं०—इसका समाधान यह है ।

अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात् ॥२॥

प० क्र०—(अपि, वा) सिद्धान्त सूचक शब्द है (कर्तृसामान्यात्) इत्तरा के पुत्र महिदास आदि के रचे हुए (अनुमानं) ब्राह्मण ग्रन्थ (प्रमाणं) वेदानुकूल होने से अप्रमाण हैं ।

भा०—धर्म में वेद को स्वतः प्रमाण माना था इससे यह नहीं कह सकते कि वेदानुकूल होने से ब्राह्मण ग्रन्थ प्रमाण हैं ही नहीं । उन्हें भी परतः प्रमाण में माना गया है क्योंकि ब्राह्मण

ग्रन्थों के कर्त्ता ऋषि थे न कि ईश्वर।

सं०--जो ब्राह्मण वेदानुकूल अर्थ प्रतिपादक हैं वह प्रमाण और शेष अप्रमाण हैं।

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥३॥

प० क्र०—(विरोधे) वेद और ब्राह्मणों का परस्पर विरोध होने पर (अनुमानं) शतपथादि ब्राह्मण (अनपेक्ष्यं) अप्रमाण है। (तु) किन्तु (असति, हि) अविरुद्ध होने पर वह प्रमाण (स्यात्) है।

भा०—जिसका वेदों में निरूपण किया है और यदि उसका ब्राह्मण प्रतिपादन नहीं करते तो वह ब्राह्मण अप्रमाण है परन्तु वेदानुकूल होने पर प्रामाणिक कहे जा सकते हैं।

सं०—वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और और विरुद्ध होने से अप्रमाण है तो ब्राह्मण ग्रन्थ परतः प्रमाण क्यों माने जावें।

हेतुदर्शनाच्च ॥४॥

प० क्र० (ऋषि) प्रोक्त होने के सिवाय (हेतु दर्शनाच्च) वेदों की व्याख्या रूप कारण से भी उन्हें परतः प्रमाण में लिया है।

भा०—ब्राह्मण ग्रन्थ ऋषि प्रणीत हैं परन्तु विशेषता यह है कि वह वेदों की व्याख्या है और जिसकी जो व्याख्या होती है वह उसके अनुसार होने से प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण होती है।

सं०—क्या ब्राह्मण सर्वथा वेदानुकूल है।

शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत ॥५॥

प० क्र०—(शिष्टाकोपे) उसे शिष्टों ने बिना किसी विरोध के माना है कि (अविरुद्ध) वह सर्वथा वेदानुकूल है यदि ऐसा कहोगे तो ठीक नहीं।

भा०—जो वेदविहित कर्मों के करने वाले हैं वे शतपथादि ब्राह्मणों को मानपूर्वक स्वीकार करते हैं यदि वह वेदविरुद्ध होते तो इस प्रकार उनका ग्रहण न होता। अत: वह वेदानुकूल होने से वेद तुल्य प्रमाण है।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

न शास्त्रपरिमाणत्वात् ॥६॥

प० क्र०—(न) यह ठीक है। (शास्त्र परिमाण त्वात्) ईश्वर रचित होने से केवल वेद ही स्वत: प्रमाण हो सकते हैं।

भा०—'तस्माद्यज्ञात्सर्व हुत:' मन्त्र में चारों वेदों की उस परमात्मा से उत्पत्ति मानी गई है। शतपथादि ब्राह्मणों की नहीं, इसलिये वेद स्वत: प्रमाण और तदनुकूल होने से ब्राह्मण परत: प्रमाण है।

सं०—यदि ऋषियों के ब्राह्मण ग्रन्थ मान्य हैं तो वेदवत् ब्राह्मण क्यों नहीं माने जाते।

अपि वा कारणग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् ॥७॥

प० क्र०—(अपि वा) शंका निवारणार्थ प्रयोग है (कारण ग्रहणे) वेद विरुद्ध का ग्रहण न किये जाने से (प्रयुक्तानि) बनाये हुए होने से (प्रतीयेरन्) प्रमाण माने हैं।

भा०—ऋषि आदरणीय है परन्तु फिर भी मनुष्य होने से उन में भ्रम होना सम्भव है। अतः उनके रचे हुए ब्राह्मण ग्रन्थ वेदानुकूल होते हुये भी स्वतः प्रमाण न होकर परतः प्रमाण ही हैं।

सं०—अब इसी में हेतु देते हैं।

तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात्॥

प० क्र०—(तेषु) उन ब्राह्मण ग्रन्थों में (विरोधस्य) वेद के विरुद्ध (अदर्शनात्) न होने से तथा [समा] वेद तुल्य ही (विप्रति पत्तिः) पदार्थ विज्ञान (स्यात्) है।

भा०—जो वेदों में पदार्थ विज्ञान है वैसा ही इन ब्राह्मणों में व्याख्या रूप विद्यमान है अतः जिन ब्राह्मणों की विषयानुकूल संगति मिलती है वह प्रमाण ही है परन्तु असंगति होने पर अप्रमाण है।

सं०—ब्राह्मण ग्रन्थों में संध्यादि अग्नि होत्र कर्म कर्त्तव्य विस्तार से कहा है परन्तु वेदों में नहीं। अतः विस्तार होने से भी वह प्रमाण नहीं।

शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात् ॥९॥

प० क्र०—(वा) का प्रयोग सिद्धान्त प्रयोजन से है (शास्त्रस्था) वेदों में कहे हुओं का ही ब्राह्मण ग्रन्थों में व्याख्यान है कोई स्वतन्त्र निरूपण नहीं क्योंकि (तन्नि मित्त त्वात्) वह वेदमूलक है।

भा०—ब्राह्मणों में सन्ध्यादि अग्निहोत्र का निरूपण कपोल

कल्पित नहीं किन्तु वेदानुकूल है। जिसे वेदों में कर्त्तव्य कर्म बतलाया। उन्हीं की ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक व्याख्या है अतः ब्राह्मण वेदानुकूल होने से प्रमाण है।

सं०—ब्राह्मण ग्रन्थों में विधि अर्थवाद आदि कई प्रकार के विषय कहे गये हैं इनमें किस को प्रमाण माना जावे।

चोदितं तु प्रतीयेताऽविरोधात् प्रमाणेन ॥१०॥

प० क्र०—(चोदितं) विधि अनुसार (तु) ही (प्रमाणेन) वेद के साथ (अविरोधात्) विरोध न होने से (प्रतीयेत्) प्रमाण मानना चाहिये।

भा०—ब्राह्मणों में विधि, अर्थवाद आदि कतिपय प्रकारों से अर्थों को विस्तार दिया गया है वहां विधि शब्दों में जो-जो कहा गया है वह वेदानुकूल होने से अनुष्ठान कर्म करने योग्य है वह प्रसंगवश कहा गया है।

सं०— कल्प सूत्र भी वेदाङ्ग होने से परतः प्रमाण क्यों नहीं।

प्रयोगशास्त्रमिति चेत् ॥११॥

प० क्र०—(प्रयोगशास्त्र) वेद विहित धर्मों का यथार्थ अनुष्ठान के बतलाने वाले कल्प सूत्र तो वेद सदृश स्वतः प्रमाण हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो असंगत है।

भा०—कल्प सूत्र वेदोक्त कर्मानुष्ठान का बोध कराते हैं तो कल्प सूत्रों को वेदानुकूल होने से स्वतः प्रमाण मान लेने में क्या हानि है यह प्रश्न किया गया है।

सं०—इसका समाधान ।

नऽसन्नियमात् ॥१२॥

प० क्र —(न) कल्प सूत्र वेद तुल्य प्रमाण नहीं क्यों कि (असन्नियमात्) उनमें अवैदिकत्व का भाव भी मिलता है।

भा०—वेदों के समान कल्प सूत्रों में सच्चे अर्थ नहीं मिलते। क्योंकि जो बात वेदों में नहीं उनका कल्प सूत्रों में वर्णन होने से काल्पनिक है। अतः वह स्वतः प्रमाण नहीं वे भी ब्राह्मणों के सदृश ही परतः प्रमाण रहेंगे।

सं —इसमें यह युक्ति है।

अवाक्य शेषाच्च ॥१३॥

प० क्र०—[च] कल्प सूत्र स्वतः प्रमाण नहीं क्योंकि [अवाक्य शेषात्] उनमें कोई विधि वाक्य और उनका स्तुति वाक्य नहीं मिलता।

भा०—वेदों में कर्मानुष्ठान करने की आज्ञा मिलती है कर्मों के फल के प्रशंसात्मक वाक्य हैं वैसे कल्प सूत्रों में नहीं उनमें तो केवल कर्म फलों के प्रकार का ही वर्णन है अतः वेद सदृश स्वतः प्रमाण नहीं।

सं०—पुनः एक और युक्ति यह भी है।

सर्वत्र च प्रयोगात्सन्निधानशास्त्राच्च ॥१४॥

प० क्र०—[सर्वत्र] सम्पूर्ण कल्प सूत्रों में [सन्निधान शास्त्रात्] अर्थ की योग्यता से अति समीपस्थ वेदार्थ के [प्रयोगात्] विरुद्धार्थ प्रयोग के मिलने से [च] वह वेद सदृश स्वतः प्रमाण नहीं।

भा०—कल्प सूत्र ऋषियों के रचे हुए हैं वह वेद के निकटतम

होते हुए भी उनमें ऐसे अर्थ किये हैं कि जो स्वमत निरूपण मिलता है। अतः कल्पसूत्र परतः प्रमाण में आ सकते हैं स्वतः प्रमाण में नहीं ।

सं०—शिष्टों के आचरण के अनुसार आचार-व्यवहार को प्रमाणित करते हैं।

अनुमानव्यवस्थानात् तत्संयुक्तं प्रमाणं-स्यात् ॥१५॥

प० क्र०—(अनुमान व्यवस्थानात्) स्मृति तथा शिष्टाचरण देश काल और अवस्था से सम्बन्धित होने के कारण (तत्संयुक्तं) वह उसी व्यवस्था के साथ सम्बन्ध रखता हुआ (प्रमाणं) प्रमाण है।

भा०—स्मृति जिस देश जिस काल और जिस अवस्था में शिष्ट पुरुषों द्वारा बनी उसी में उसका अनुसरण करना चाहिये न कि अन्य भी सर्वत्र करें।

सं०—इसका समाधान यह है।

अपि वा सर्वधर्मः स्यात्तन्न्यायत्वाद्विधानस्य ॥

प० क्र०—(अपि वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष के निराकरण के लिये है (तत्) मनुस्मृति और शिष्टाचार से (सर्वधर्मः) मनुष्यमात्र का एक समान आचरणीय धर्म (स्यात्) है क्योंकि (विधानस्य) स्मार्त अर्थ और शिष्टों का आचरण (न्यायत्वात्) सर्वथा ठीक है।

भा०—मानव धर्मशास्त्र में जिसका विधान है और जो सनातन से शिष्ट पुरुषों के आचरण हैं वह सर्वथा वेदानुकूल

होने से मान्य हैं। अतः वह मनुष्य मात्र के लाभ के लिये हैं किसी जाति, देश, काल व अवस्था विशेष के लिये ही नहीं।

सं०—जहां स्मृति अथवा शिष्टों के अनुसार आचरण करते हुए न रह सकें वहां क्या कर्त्तव्य है।

दर्शनाद्विनियोगः स्यात् ॥१७॥

प० क्र०—(दर्शनात्) वैदिक ज्ञान से (विनियोगः) स्मार्त्त शिष्टाचार की स्थापना (स्यात्) होती है।

भा०—जिस देश में वेदोक्त धर्म और तदनुकूल शिष्टाचरण न रहा हो वहां पुनः शिष्टाचार स्थापित किया जाना चाहिये।

सं०—जहां वैदिक शृङ्खला न रही हो वहां क्या कर्त्तव्य है।

लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य ॥१८॥

प० क्र —(नित्यस्य) वैदिक धर्म नित्य होने से सनातन है उसका नाश नहीं हो सकता। (लिंगा भावात्) सनातन के नाश का कोई प्रमाण हेतु नहीं मिलता।

भा०—वेद अनादि ज्ञान है उसका नाश नहीं होता। मनुष्यों की रज तम बुद्धि भेद से अर्थ और आचरण के कारण उत्थान और पतन होता रहता है। अतः वेदानुकूल जीवन बनाने से वह सात्विक बुद्धि, पवित्र आचरण और अर्थ पुनः प्रचलित हो सकते हैं।

सं०—जिस देश के जो आचरणीय ग्रन्थ हैं वह वहां के लिये अनुकूल है अन्य देशों में उनकी अनकूलता

कैसे होगी ।

आख्या हि देशसंयोगात् ॥ १६ ॥

प० क्र०— (आख्या) नाम (हि) भी (देशसंयोगात्) देश विशेष के सम्बन्ध से है ।

भा०—वैदिक धर्म के प्रचारक ऋषि आदि काल में जिस देश में गए वहां से ही सर्वत्र वह वेदोक्त धर्म फैला । उसी के अनुसार स्मृति ग्रन्थ बने, और तदनुकूल ही शिष्टों के आचरण बने ।

सं०—इसमें यह आशंका है ।

न स्याद्देशान्तरेष्विति चेत् ॥२०॥

प० क्र०—(देशान्तरेषु) यदि भारत धर्म केवल देश योग से है तो (न) ऐसा नहीं (स्यात्) होना चाहिये (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो ठीक नहीं ।

भा०—किसी वस्तु से किसी वस्तु के नाम का तब तक ही सम्बन्ध रहता है जब तक वह बनी रहे, बाद को वह नहीं रहता इसी प्रकार 'भारत धर्म' अन्यत्र जाने से उसी देश के नाम से होना चाहिये ।

सं०—इस आपत्ति का निराकरण करते हैं ।

स्याद्योगाख्या हि माथुरवत् ॥२१॥

प० क्र०—(योगाख्या, हि) निश्चय भारत के साथ योग होने से (स्यात्) है जैसे (माथुरवत्) मथुरा निवासी माथुर कहलाये ।

भा०—भारत में जन्म लेने से आदि ऋषि भारतीय ऋषि कहलाये । यह किसी भी देश में आवागमन में रहें भारतीयता शून्य नहीं रह सकते ।

सं०—इस में आशंका करते हैं ।

कर्मधर्मो वा प्रवणवत् ॥२२॥

प० क्र०—'वा' शंका सूचक शब्द है । (कर्मधर्मः) ऋषियों के नाम के साथ देश बोधक शब्द का योग वेदोक्त कर्म का का अङ्ग है (प्रवणवत्) प्रवण के समान ।

भा०—जैसे यह विधि है कि "प्राचीन प्रवेण वैश्व देवेन-यजेत्" अर्थात् प्राचीन प्रवण देश में वैश्व देव नामक यज्ञ करें जिस प्रकार यहां वैश्वदेव का प्राचीन प्रवण देश अंग बतलाया गया उसी प्रकार वेदोक्त कर्मानुष्ठान कर्त्तव्य योग्य 'भारतवर्ष ही' है अतः यह भारतीय धर्म होने से उन्हीं से कर्त्तव्य है अन्य से नहीं ।

सं०—इसका समाधान यह है ।

तुल्यं तु कर्तृधर्मेण ॥२३॥

प० क्र०—'तु' आशंका निवारणार्थ है (कर्तृधर्मेण) देश विशेष को कर्म का अंग मान लेना काले गोरे कर्त्ता के अंग स्वीकार के [तुल्य] सदृश हैं ।

भा०—कर्म कर्त्ता के काले गोरे अंग पर ध्यान देना जिस प्रकार व्यर्थ है क्योंकि उसका कर्मानुष्ठान से क्या सम्बन्ध वह वैदिक होना चाहिये चाहे वह काला हो चाहे गोरा । वहा रंग का प्रश्न ही नहीं इसी प्रकार देश विशेष को कर्म का अंग मानना वृथा है ।

सं०–साधुशब्द प्रयोग–सिद्धि में कहते हैं।

प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्था-स्यात् ॥२४॥

प० क्र०—(प्रयोगोत्पत्त्य शास्त्रत्वात्) शुद्ध पद की सिद्धि में व्याकरण की अप्रामाणिकता से (शब्देषु) शुद्ध तथा अशुद्ध शब्दों में (व्यवस्था) शुद्ध शब्द प्रयोग की व्यवस्था (न, स्यात्) नहीं हो सकती।

भा०—गो शब्द शुद्ध और गावी, गोणी- आदि अशुद्ध हैं यह व्याकरण ही बता सकती है परन्तु शुद्ध पद की निष्पत्ति में वेद मूलक व्याकरण न होने से अप्रमाण है अतः शुद्ध तथा अशुद्ध शब्द का प्रयोग करना उसके नियम से ठीक नहीं।

सं०–उस पक्ष का समाधान करते हैं।

शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् ॥२५॥

प० क्र०—(शब्दे) सर्वथा शुद्ध शब्द का प्रयोग हो क्योंकि (प्रयत्न निष्पत्तेः अपराधस्य) उसके प्रयोग करने से अपने ही पुरुषार्थ से साध्य पाप का (भागित्वम्) भागी होना पड़ता है।

भा०—शब्द शास्त्र वेद मूलक है। महा भाष्यकार श्री पतंजलि ने लिखा है कि अशुद्ध कभी भी न बोले उसका बोलने वाला म्लेच्छ हो जाता है।

सं०–और भी युक्ति देते हैं।

अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् ॥२६॥

प० क्र०—(अनेक शब्दत्वम्) एक शब्द के निमित्त समानार्थ

अनेक शब्दों को मानना (अन्यायः) अन्याय है।

भा०—अर्थ बोध शब्दाधीन है। यदि वह एक ही शब्द से होता हो तो उसके लिये समानार्थक अनेक शुद्ध अथवा अशुद्ध शब्द गढ़े जावें जैसे जिसके गले में सासना (कम्बल) लटकता हो वह गौरूप अर्थ का व्यञ्जन गोशब्द पर्याप्त है गौणी, गावी आदि अपभ्रंश तथा शुद्ध अशुद्ध शब्द का मानना असमीचीन है।

सं०— शुद्धाशुद्ध शब्द का ज्ञान कैसे हो।

तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात्स्यात ॥२७॥

प० क०—(तत्र) शुद्ध तथा अशुद्ध अनेक शब्दों में (तत्वं) शुद्ध शब्दार्थ ज्ञान (अभियोग विशेषात्) व्याकरण के अभ्यास से (स्यात्) होता है।

भा०—गो शब्द शुद्ध और गावी, गौणी आदि अशुद्ध अपभ्रंश है यह ज्ञान व्याकरण अध्ययन से होता है अतः शुद्धाशुद्ध ज्ञान के लिये व्याकरण का पढ़ना आवश्यक है।

सं०—यह गो शब्द के अशुद्ध शब्द कैसे बने और उनसे गो रूप अर्थ का ग्रहण कैसे होने लगा।

तदशक्तिश्चानुरूपत्वात् ॥२८॥

प० क०—(तत्) गौ शब्द के गौणी गावी आदि अपभ्रंश अशुद्ध शब्द (अशक्तिः) व्याकरणानुसार शुद्ध शब्द न जानने की शक्ति-हीनता ही है (च) और (अनुरूप त्वात्) गो शब्द के समान होने से उससे गौरूप अर्थ का बोध कर लिया।

भा०—पूर्व काल में किसी ने गौ शब्द उच्चारण करने के स्थान में व्याकरण ज्ञान की न्यूनता के कारण शुद्धोच्चारण न कर

सकने पर उसके स्थान में 'तत्सम' शब्द रच लिये वह शब्द दूसरों ने भी सुने और उत्तरोत्तर इसी प्रकार स्थान पाते गये और गौ शब्द के अपभ्रंश होने से 'गोत्व' अर्थ बोध में प्रयुक्त होने लगे।

सं०—उसी को पुनः दृष्टान्त से निरूपण करते हैं।

एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात् ॥२९॥

प० क्र०—(च) तथा (विभक्ति व्यत्यये) अन्य विभक्ति के बोलने पर जैसे प्रतिपादकरूप एक देश की समानता से अर्थ बोधक होते हैं उसी भांति (एकदेशत्वात्) गो रूप शुद्ध शब्द का प्रयोग एक देशीय होने से गौणी, गावी आदि अशुद्ध और अपभ्रंश शब्दों द्वारा गो रूप अर्थ का बोध [स्यात्]होता है।

सं०—गौ शब्द की शक्ति गो धर्म आदि अर्थ में हो सकती है न कि व्यक्ति में अतः इसे सिद्ध करते हैं।

प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात् ॥३०॥

प० क्र०—[अविभागात्] गो शब्द लोक और वेद में एक सा है [अर्थैकत्वम्] उसका व्यक्तित्व रूप से एक ही अर्थ भी है क्योंकि [प्रयोग चोदना भावात्] वाक्य की प्रेरणा होने से।

भा०— 'व्रीहीन्वहन्ति' धान कूटो, 'अश्व नय' घोड़ा ले जा 'गामानय' गौ लाओ इन प्रेरक वाक्यों में धान का कूटना, घोड़ा ले जाना और गौ लाना आदि मात्र का अर्थ बोधक है न कि जाति का। जाति लाई या ले जाई गई अथवा कूटी नहीं जा सकती। अतः गौ शब्द गौ व्यक्ति का बोधक है न कि जाति का।

सं०—जाति के शब्दार्थ न होने में हेतु देते हैं।

अद्रव्य शब्दत्वात् ॥३१॥

प० क्र०—[अद्रव्य शब्दत्वात्] यदि शब्द का अर्थ जाति मान लिया जावे तो वह द्रव्याश्रित वाक्यों का वाचक नहीं माना जावेगा।

भा०—जैसे कोई कहे कि छः दो, बीस दो, तो इन वाक्यों में जो छः अथवा बीस आदि का देना है वह जाति पक्ष में नहीं किन्तु व्यक्ति का ही है। क्योंकि जाति एक होने से छः आदि संख्या का आधार नहीं हो सकती।

सं०—और युक्ति देते हैं।

अन्यदर्शनाच्च ॥३२॥

प० क्र०—[अन्यदर्शनात्] ग्रहण-क्रिया के साथ अन्य वस्तु का अन्वय देखे जाने से [च] शब्द का अर्थ जाति नहीं।

भा०—जैसे कोई कहे कि यदि युद्ध में एक अश्व मर जावे तो तुरन्त दूसरा ले लेवे। यहां अश्व का मरना और अन्य का ग्रहण जाति पक्ष में नहीं घट सकता क्योंकि जाति में मरण और ग्रहण दोनों असम्भव हैं इसलिये व्यक्ति ही शब्द का अर्थ है जाति नहीं।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् ॥३३॥

प० क्र०—[तु] पूर्व पक्ष को हटाने के निमित्त प्रयोग किया है [आकृतिः] शब्दका अर्थ जाति है न कि व्यक्ति क्योंकि [क्रिया-र्थत्वात्] शिष्ट गुरुजनों के व्यवहार में आने से जाति रूप अर्थ में ही शब्द की शक्ति का ग्रहण है।

भा०—पूज्य पुरुषों को बोलता हुआ बालक जैसा सुनता है उसी प्रकार वह शब्द की शक्ति को ग्रहण करता है यह जाति में ही होता है जैसे जिसने जिस वस्तु के नाम के शब्द शक्ति को ग्रहण किया वह उसे वही कहेगा और उससे भिन्न व्यक्ति को देखकर सन्देह होगा ही नहीं ।

सं०—पुनः सन्देह किया जाता है ।

न क्रिया स्यादिति चेदर्थान्तरे विधानं न द्रव्य-मिति चेत् ॥२४॥

प० क्र०—(क्रिया) जाति पक्ष में जैसे यह कहा जावे कि "व्रीहीन वहन्ति" धान कूटने की क्रिया (न स्यात्) नहीं होगी और (अर्थान्तरे) अन्य के स्थान में (विधानं) अन्य ग्रहण का विधान तथा (द्रव्यं षड्देया, द्वादश देया इत्यादि द्रव्याश्रय काल (न) नहीं होगा (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं ।

भा०—तेतीसवें सूत्र के भाष्य में बताया जा चुका है कि यदि व्यक्ति में शक्ति ग्रह मानी जावे तो जिस व्यक्ति में उसको शक्ति ग्रह हुआ है उससे अन्य में शक्ति ग्रह न होने से अवश्य-मेव सन्देह होता क्योंकि शक्तियें अनन्त हैं और एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है अतः जाति ही शब्दार्थ है व्यक्ति नहीं ।

सं०—इन शंकाओं का समाधान करते हैं ।

तदर्थत्वात्प्रयोगस्याविभागः ॥२५॥

प० क्र०—(तदर्थत्वात्) व्रीह (जो) आदि पदों को लक्षणवृत्ति से कहे हुये अर्थ होने से (प्रयोगस्य) प्रयोग के अर्थ का (अवि-भागः) बाधक नहीं ।

भा०—शब्द का अर्थ यह है कि जिसका अन्य किसी प्रकार से

लाभ न हो। व्यक्ति ऐसा पदार्थ नहीं कि जो अन्य किसी भांति न मिल सके। जाति ग्रहण से वह स्वयं ग्रहण में आजावेगी क्योंकि वह जाति का आश्रय है और बिना आश्रय जाति का ग्रहण नहीं हो सकता। अतः उसमें शक्ति का मानना व्यर्थ है और अर्थापत्ति से लाभ करने में बड़े दोष हैं अतएव शब्द का मुख्यार्थ जाति और व्यक्ति बिना आक्षेप के मिलते हैं।

इति श्री मीमांसा दर्शने प्रथमाध्याये तृतीयः पादः।

अथ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादः प्रारभ्यते।

सं०—वेद स्वतः प्रमाण हैं, ब्राह्मण, कल्प सूत्र, स्मृति और शिष्टाचार वेदानुकूल होने से प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण कहे। अब ऐतरेय ब्राह्मण में निरूपित कर्म की संज्ञा का कथन करते हैं।

उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात्सर्वं तदर्थं स्यात्।

प० क्र०—(समाम्नाये तदर्थं) वेद को विधेयार्थ में प्रामाण्य (उक्तं) कहा गया है (तस्मात्) अतः (सर्वं) सब ब्राह्मणों में कहा हुआ उद्भिदादिपद (तदर्थं) विधेयार्थ के लिये (स्यात्) है।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ में ऐसा पाठ आता है कि "उद्भिदायजेत् इत्यादि इसमें पूर्व पक्षी ने यह कहा है कि प्रथम वेद करो विधेय अर्थ में प्रामाण्य कहा क्योंकि विधि वाक्य पूर्व विधान किये गये ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्भिदादि रूपगुण विशेष का विधान करते हैं किसी अपूर्व योग का नहीं क्योंकि ऐसा मानने से वाक्य भेद हो जाता है कि एक ही वाक्य प्रथम याग का और फिर उसके नाम का विधान करे यह समीचीन नहीं अतः ऐसे यागों में गुण विशेष का ही विधान मानना ठीक है नाम का नहीं।

सं०—इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

अपि वा नाम धेयं स्याद्यदुत्पत्तावपूर्वमविधा-यकत्वात् ॥२॥

प० क्र०–(अपि वा) शब्द पूर्व पक्ष निवारण के लिये है (उत्पत्तौ) सुनने पर (यत्) जो पद (अपूर्व) प्रथम किसी अन्य अर्थ में प्रयोग में न आया हो वह (नामधेयं) याग का नाम (स्यात्) है [अविधायकत्वात्] किसी गुण विशेष का बतलाने वाला नहीं।

भा०–'उद्भिदादि' पद किसी अन्य अर्थ के पर्याय में पहले प्रसिद्ध नहीं हुए। अतः इस वाक्य में किसी गुण भूत द्रव्य विशेष का नहीं करते किन्तु वेद विहित कर्मों की संज्ञा ही बतलाते हैं।

सं०–चित्रादि शब्दों से याग का निरूपण करते हैं।

यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्धः ॥३॥

प० क्र०–[यस्मिन्] जिस पद में [गुणोपदेशः] रूढ़ होने पर भी गुणोपदेश मिले उस का [प्रधानतः] धातु रूप प्रकृति के साथ [अभि सम्बन्धः] याग का नाम होकर सम्बन्ध होना योग्य है।

भा० – इस वाक्य में कि "चित्र या यजेत पशु कामः" इस में इस नाम विधि से कि, पशु कामना वाला पुरुष चित्रा नामक याग करे अथवा इस में गुणविधि है कि चित्र रूप वाले किसी द्रव्य विशेष से याग करे! इसका उत्तर यह है कि यद्यपि चित्रा शब्द उद्भित शब्द के समान यौगिक है परन्तु किसी विभिन्न रूप वाले किसी एक पदार्थ से रूढ़ है तब भी वह उद्भित के समान याग है। चित्रा याग दही, मधु, घी और जल, अक्षत अनेक पदार्थ युक्त होता है परन्तु गुणविधि मानने से "अग्निषो मीयं पशुमा लभते" अर्थात् प्रकाश और सरल गुणमय परमात्मा

के उद्देश्य से पशु का उत्सर्ग [त्याग] करे।
सं०—अग्नि होत्रादि शब्दों को कर्म का नाम होना निरूपण करते हैं।

तत्प्रख्यञ्चान्यशास्त्रम् ॥४॥

प० क्र०—[च] और [तत्प्रख्यं] जिस वाक्य में सुने हुए गुण का मिलने वाला [अन्यशास्त्रम्] अन्य वाक्य विद्यमान हैं उस में नाम विधि होती है।

भा०—ब्राह्मण ग्रन्थों में "अग्निहोत्रं जुहोति" यहां यह जानना आवश्यक है कि इस याग का अग्निहोत्र नाम है या केवल होत्र। इसका यह उत्तर है कि "अग्नि ज्योति" इत्यादि से सायं जुहोति और सूर्योज्योतिः से प्रातः जुहोति। इन वाक्यों में अग्नि रूप गुण पाया जाता है परन्तु प्राप्त विधि नहीं है अतः यह नाम विधि ही कहे जावेंगे और यदि यह कहो कि जिस कर्म में अग्नि में होमता है वह अग्निहोत्र है इससे भी नाम ही उपलब्ध होता है गुण नहीं। अतः वहां नाम की विधि है न कि गुण का विधान। वैसे ही "आधार" याग कर्म में भी नाम जानना।

सं०—'श्येन' शब्द भी याग का नाम है उसे कहते हैं।

तत्व्यपदेशं च ॥५॥

प० क्र०—(च) तथा (तद् व्यपदेशं) जिन वाक्यों में प्रसिद्ध पदार्थ से कर्म का उपमेय तथा उपमान भाव से निरूपण पाया जावे उसे भी नाम विधि कहते हैं।

भा०—जिन स्थलों पर श्येन, सन्देश तथा गो याग के नाम आये है वहां गुण विध न है अथवा नाम इसका उत्तर यह दिया गया है कि यद्यपि जाति वाची श्येन आदि शब्दों से याग का निरूपण किया गया है परन्तु उस याग में श्येन आदि रूप गुण विधान

के प्रयोजन से नहीं किन्तु उपमा के प्रयोजन से है जैसे श्येनः बाज अपने शत्रु को पकड़ लेता है अथवा सन्देश संडासी कट-लोई आदि को पकड़ती है और गौवें दूध से यजमान का श्येन सदृश (ग्रण करती है) वाला भाव है अतः नाम विधि ही मानना चाहिये न कि गुण विधि ।

सं०—वाजपेय शब्द भी याग नाम धेयक ही है ।

नामधेये गुणश्रुतेः स्याद्विधानमिति चेत् ॥६॥

प० क्र०—(नाम धेये) नाम ही में (गुणश्रुतेः) गुण के सुने जाने से (विधानं) वाजपेय शब्द से गुण विधान (स्यात्) है । (चेत्) यदि (इति) कहा जावे तो समीचीन नहीं ।

भा०—ऐसे अनेक स्थलों में वाजपेय याग का नाम है अथवा गुण विधान है कि जहां आता है कि "वाजपेयेन स्वराज्य कामो यजेत् " इसका यह भाव है कि पान करने योग्य अन्न रस को वाजपेय कहते हैं । इससे सिद्ध है कि वाजपेय संज्ञा में ही द्रव्य रूप गुण पाया जाता है अतः वहां गुण विधान है न कि नाम विधि है ।

सं०—अब इसका समाधान करते है ।

तुल्यत्वात् क्रिययोर्न ॥७॥

प० क्र०—(न) यह गुण विधि नहीं क्योंकि गुणविधि स्वीकार करने से (क्रिय योः) वाजपेय यज्ञ और दर्श पूर्णमास यह दोनों यज्ञ क्रियायें (तुल्यत्वात्) परस्पर समान होती हैं ।

भा०—वाजपेय याग में गुण मानने से दर्श पूर्णमास की विधि में अन्तर नहीं रहता । दर्श पूर्णमास याग में भी तो वही गुण वाजपेय कैसे अन्न मय द्रव्य के गुण विधि युक्त ही होते हैं अतः

गुण की सदृशता से दर्श पूर्ण मास प्रकृति याग और वाजपेय विकृति याग हो जावेगा और अति देश स्वीकार करना होगा परन्तु वह माना नहीं जा सकता क्योंकि वाजपेय याग सत्रह "दीक्षा" और सत्रह ही "उपसत" वाला होता है परन्तु दर्श पूर्ण मास में यह नहीं होते अतः ज्योतिष्टोम याग का विकृति रूप वाजपेय याग है।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

ऐकशब्द्ये परार्थवत् ॥८॥

प० क्र०—(ऐक शब्द) एक ही वाक्य में (यदि एक ही वाक्य से गुण विधान पदार्थ वत्) गुणस्वरूप दूसरे अर्थ का गुण विधान मानने से वाक्य रूप दोष आता है तथा याग का अभि-धान कर लिया जावे तो एक ही यज धातु के अर्थ याग और वाजपेय के साथ 'वाजपेयेन यजेत् और स्वाराज्य कामो यजेत्' इसमें कर्मत्व और कर्णत्व रूप सम्बन्ध मानना पड़ेगा जो ठीक नहीं क्योंकि एक ही पद का अलग अलग अर्थ से दोनों के साथ सम्बन्ध मानने में वाक्य दोष होता है अतः 'वाजपेयेन' इसे नाम विधि ही मानना चाहिये गुण विधि नहीं।

सं०—अग्नेय आदि शब्दों को गुण विशिष्ट याग का विधान कर्त्ता बतलाते हैं।

तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद्विधानार्थे न चेदन्येन शिष्टाः ॥९॥

प० क्र०—(तु) शब्द नाम विधि की के लिये प्रयोग हुआ है। (तद्गुणा) 'आग्नेय' शब्द कर्म युक्त गुणों

का (विधियेरन) विधान करते हैं । कारण कि (विधिनार्थे) कर्म विधायक आग्नेय शब्दों में (अविभागात्) कर्म और अग्नि आदि गुणों में अन्तर नहीं और यह गुण किसी दूसरे वाक्य से (शिष्टाः) उपलब्ध (न चेत्) नहीं है ।

भा०—जैसे दर्श पूर्ण मास अधिकरण में कहा जाता है कि 'यदाऽग्नेयोष्टाकपालो ऽमावस्यायां पौर्णमास्या याञ्चाच्युतो भवति' इसमें आग्नेय शब्द अग्निहोत्र शब्द के समान कर्म का संज्ञक है अथवा गुण सहित कर्म का विधान है । यदि केवल नाम विधि मानी जावे तो लाघवता है तो भी न मानना ही ठीक है जैसे जहां कोई अन्य वाक्य गुण का विधान करता है वहां ही वह माना जाता है यह नियम है । जैसे अग्नि ज्योतिः इत्यादि में न कि सर्वत्र और "आग्नेयोऽष्टाकपालः" में अग्नि गुण का दिखलाने वाला अन्य वाक्य न होने से वहां गुण सहित कर्म के विधान करने वाले ही आग्नेय आदि शब्द हैं ऐसा मानना ठीक है ।

सं०—वर्हिः शब्द जाति वाचक है उसको कहते हैं ।

बर्हिराज्ययोरसंस्कारे शब्दलाभादतच्छब्दः ॥

प० क्र०— वर्हि राज्ययोः) बर्हि और आज्य का (असंस्कारे) संस्कार हीन (शब्द लाभात्) शब्द प्रयोग से (अतच्छब्दः) वह शुद्ध नहीं क्योंकि बर्हिः कुश तथा शुद्ध घी के वाचक नहीं, बर्हि और आज्य मात्र के वाची हैं ।

सं०—प्रोक्षणी शब्द यौगिक है उसे बतलाते हैं ।

प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात् ॥११॥

प० क्र०-(प्रोक्षणीषु) जहां प्रोक्षण हो उन जलों में प्रोक्षणी शब्द

का प्रयोग मानना चाहिये। क्योंकि (अर्थ संयोगात्) अवय-वार्थ के सम्बन्ध से प्रोक्षिणी शब्द का अर्थ जल ही है।

भा०—दर्श पूर्णमास याग में "प्रोक्षिणी रासादय"- इस वाक्य में प्रोक्षिणी जल वाची है अथवा जाति वाची अर्थात् जल मात्र का ज्ञापक है अथवा यौगिक प्रोक्षण के साधन मात्र का वाची है।

सं०—निर्मन्थ्य शब्द भी यौगिक ही है।

तथा निर्मन्थ्ये ॥१२॥

प० क्र०—(तथा) जिस प्रकार प्रोक्षिणी शब्द "प्रोक्षिणी रासादय वाक्य में यौगिक है उसी प्रकार (निर्मन्थ्ये) यह वाक्य "निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति" वाक्य में यौगिक है।

भा०—अग्नि चयन प्रकरण में "निर्मन्थ्ये" शब्द संस्कारवाची है अथवा जाति वाची अथवा यौगिक इसका यह उत्तर है कि अग्नि चयन कर्म प्रकरण में पढ़े जाने से वह शुद्ध अग्नि और उससे उत्पन्न अग्नि मात्र का वाचक हो सकता है परन्तु यहां यौगिक ही है। संस्कार वाची मानने से 'चिर मथति 'अथवा" अचिर निर्मथित का निश्चय नहीं हो सकता और जाति वाचक मानने से यथोपपन्न अग्नि का ग्रहण अग्नि चयन में ठीक नहीं। अतः लौकिक मथन से अग्नि का ही ग्रहण करना चाहियें जो कि निर्मन्थ्य शब्द का अर्थ भी है।

सं०-वैश्वदेव आदि शब्द भी याग वाची हैं उसे: कहते हैं।

वैश्वदेवे विकल्प इति चेत् ॥१३॥

प० क्र०—(वैश्वदेवे) अर्थात् "वैश्वदेवेन यजेत्" इस वाक्य में सुने गये देवता तथा द्रव्य रूप गुण का (विकल्प): जैसे

"आग्नेयमष्टा कपालं निर्वपति" इस वाक्य में आये देवता तथा द्रव्य रूप गुण के साथ विकल्प है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जावे तो ठीक नहीं।

भा०—चातुर्मास यज्ञ के चार पर्व अर्थात् वैश्वदेव, वरुण, प्रघास, साकमेध सुनासीरीय। इनमें प्रथम पर्व में आठ प्रकार के याग कहे हैं इसमें "वैश्वदेवेनयजेत्" गुणविधि है अथवा नाम विधि इसका निरूपण करना है। यहां यजेत् पद आठों याग का अनुवाद करके उसमें देवता तथा द्रव्य रूप गुण की विधि बतलाता है। प्रकरण में ऐसा ही पाठ हैं उसके विहित देवता तथा द्रव्य रूप गुणों का 'आग्नेय' आदि वाक्य विधान किये अग्नि आदि देवता तथा पुरोडाशादि द्रव्य रूप गुणों के साथ विकल्प के स्थान में संग्रह हैं।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

न वा प्रकरणात्प्रत्यक्षविधानाच्च नहि प्रकरणं द्रव्यस्य ॥१४॥

प० क्र०—(न वा) गुण विधि मान कर अग्नि आदि देवता रूप गुणों का विश्वे देव रूप गुण के साथ विकल्प ठीक नही (प्रकरणात) प्रकरण से अग्नि आदि होना और (प्रत्यक्ष विधानात्) साक्षात् तद्धित श्रुति से विहित एवं (द्रव्यस्य) उत्पन्न वाक्य से पुरोडाश आदि द्रव्य गुणों की प्राप्ति का भी (प्रकरणं) प्रकरणानुकूल द्रव्य गुण के योग से (न, हि) विकल्प नहीं बनता।

भा०—अग्नि देवता और पुरोडाश आदि प्रकार गुण पहले विद्यमान होने से अन्तरङ्ग है और वैश्व देव वाक्य में विधान किये

देवता एवं द्रव्य रूप गुण पश्चात् होने से वहिरङ्ग है यतः अन्तरङ्ग से वहिरङ्ग निर्बल होता है अतः बहिरङ्ग द्वारा अन्त-का पाक्षिक बाध मानकर विकल्प ठीक नहीं क्योंकि निर्बल प्रबल का बाधक नहीं हो सकता। अतः "वैश्व देवेन यजेत्" में गुण विधि नहीं किन्तु नाम विधि है अर्थात् पूर्वनिर्दिष्ट आठ यागों में 'यजेत्' पद से वैश्व देव नाम से अनुवाद कर लिया गया है।

सं०—गुण विधि मानने में और भी दोष है।

मिथश्चानर्थसम्बन्धः ॥१५॥

प० क्र०—(च) और (मिथः) दोनों का (अनर्थ सम्बन्धः) सम्बन्ध नहीं बनता।

भा०—उत्पत्ति वाक्य द्वारा उपलब्ध होने से अग्नि आदि गुण पूर्व ही विद्यमान है अतः उनका याग-योग होने पर प्रकरण द्वारा जाने हुए वैश्वदेव रूप गुण का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। कारण कि अग्नि आदि गुणों का सम्बन्ध होने से याग आकांक्षा रहित हो जाता है और आकांक्षा रहित होने से सम्बन्ध नहीं होता एवं सम्बन्ध न होने से गुण विधि मानना निष्प्रयोजन के समान है इसलिये 'वैश्वदेवेन यजेत्' यह गुण विधि नहीं किन्तु पूर्वोक्त आठों याग की समुच्चय रूप नाम विधि है।

सं०—याग की आवृत्ति से सम्बन्ध तो बन जाता है। फिर असम्बन्ध कैसा।

परार्थत्वाद्गुणानाम् ॥१६॥

प० क्र०—(गुणानां) गुणों के (परार्थ त्वात्) अप्रधान होने से कर्म की आवृत्ति नहीं हो सकती।

भा०—गुणों की आवृत्ति प्रधान के अनुसार होती है न कि गुणों के अनुकूल। प्रधान का इस नियम से याग प्रधान है और अग्नि आदि विश्वेदेव याग का अंग होने से अप्रधान और इसी लिये यह गुण कहे जाते हैं क्योंकि गौण प्रधान नहीं हो सकता अतः तदनुसार ही याग की आवृत्ति भी नहीं बन सकती इस कारण नाम विधि ठीक है गुण विधि नहीं ।

सं०—वैश्वानर यज्ञ में (अष्टा कपाल) आदि शब्दों का अर्थवाद होना कहते हैं।

पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये ।१७।

प० क्र०—[पूर्ववन्तः] अग्नि आदि गुणपूर्व होने से [अविधा-नार्थाः] "वैश्व देवेन यजेत्" में उसकी विधि की सामर्थ्य नहीं, परन्तु [समाम्नाये] अष्टा कपाल, नव कपाल आदि वाक्यों में [तत्सामर्थ्यं] आठ आदि गुणों की विधि बल से है क्योंकि पहले वह न थे।

भा० —यहां यह सिद्ध किया है कि "अष्टा कपाल" में गुण विधि है या वैश्वानरेष्टि निरूपक वाक्यों में सुनते हुये द्वादश कपाल के प्रशंसक अर्थवाद हैं। इसमें पूर्व पक्षी कहता है कि "द्वादश सुकपाले संस्कृतः" जो बारह कपालों में पकाया जाय उस पुरोडाश रूप द्रव्य विशेष को द्वादश कपाल कहते हैं और सिद्धान्ती यह कहता है कि इस कथन से कि द्वादश कपाल पुरोडाश रूप द्रव्य विशेष का वाची है उसी प्रकार अष्टाकपाल नव कपाल आदि भी पुरोडाश रूप द्रव्य विशेष वाची हैं द्वादश कपाल के समान उन के पवित्रतादि फल भी कहे गये हैं अतः अतः यह गुण विधि है न कि अर्थवाद।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

गुणस्य तु विधानार्थे तद्गुणाः प्रयोगे स्युरन-र्थका न हि तं प्रत्यर्थवत्ताऽस्ति ॥१८॥

प० क्र० -[तु] शब्द पूर्व पक्ष निवृत्ति के लिये प्रयोग किया गया है [गुणस्य] बारह कपाल रूप गुण के [विधानार्थे] विधान करने वाले "वैश्वानरं" इस वचन के होते हुये भी [अतद्गुणाः] आठ कपाल आदि रूप गुणों का विधान नहीं हो सकता और [प्रयोग] याग की अन्तर विधि में अयोग्य होने से [अनर्थकाः] वह निष्फल हो जाते हैं और [तं प्रति] बिना अर्थवाद माने हुये उनका प्राकृत याग से सम्बन्ध एवं (अर्थवत्ता) प्रयोजनीय (न हि) नहीं हो सकते ।

भा०—यद्यपि द्वादश कपाल की भांति अष्टा कपाल भी पुरोडाश रूप द्रव्य के ही वाची हैं परन्तु द्वादश कपाल रूप द्रव्य गुण का इस याग के साथ योग नहीं क्योंकि वह पूर्व ही द्वादश कपाल रूप गुण से रुका हुआ था और अनेक गुणों की विधि मानने से वाक्य भेद रूप दोष आता है वह ठीक नहीं और बिना अर्थ-वाद माने हुये इस याग से योग भी ठीक नहीं बैठता। इसलिये अष्टा कपाल द्वादश कपाल की स्तुति कर्त्ता होने से अर्थ वाद है गुण विधि नहीं ।

सं०—पुन: आशंका करते हैं ।

तच्छेषो नोपपद्यते ॥१९॥

प० क्र०-- (तच्छेषः) अष्टा कपाल और द्वादश कपाल के शेष अर्थात् स्तुति कर्त्ता हैं यह (न) नहीं (उपपद्यते) सिद्ध हो सकता है ।

भा०—अष्ट संख्या द्वादश के सामने छोटी है इस कारण अष्टा

कपाल को द्वादश कपाल का स्तुति कर्त्ता कहना असंगत है।

सं०—इसका समाधान यह है।

अविभागाद्विधानार्थे स्तुत्यर्थेनोपपद्येरन् ॥२०॥

प० क्र०—(विधानार्थे) कथित द्वादश संख्या में (अविभागात्) अष्ट आदि संख्या का अन्तर्भाव होने से (स्तुत्यर्थेन) स्तवन रूप अर्थ से (उपपद्येरन) अष्टा कपाल आदि कथन ठीक है।

भा०—आठ की संख्या १२ के भीतर होने से उसका अंश है और अंश द्वारा अंशों की स्तुति होना असम्भव नहीं अतः अष्टा कपाल आदि वाक्य अर्थ वाद ही हैं गुण विधि नहीं।

सं०—उक्त अर्थ की आशंका।

कारणं स्यादिति चेत् ॥२१॥

प० क्र०—(कारणं) अष्टा कपाल आदि सुने हुये पवित्रादि फल के कारण (स्यात्) हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहें तो ठीक नहीं।

भा०—अष्टा कपाल और द्वादश के स्तुति कर्त्ता अर्थ वाद नहीं हो सकते किन्तु कठिन पवित्रता आदि रूप फल के कारण हैं और कारणता क्रिया का शेष अर्थात् गुण हुए बिना सम्भव नहीं अतः वह गुण विधि ही है अर्थ वाद नहीं कही जा सकती।

सं०—इसका समाधान यह है।

आनर्थक्यादकारणं कर्तुर्हि कारणानि गुणार्थो हि विधीयते ॥२२॥

प० क्र०—(अकारणं) अष्टा कपाल आदि कथित पवित्रता आदि

फल के मूल नहीं। क्योंकि (आनर्थ्यक्यात्) उनका उस फल में प्रयोजन नहीं (कर्तुः हि) यज्ञ कर्त्ता यजमान को ही (कारणानि) पवित्रादि फल मिलने से वह कर्त्ता को अनुपलब्ध होने के स्थान में जात पुत्र को होते हैं अतः (गुणार्थः हि) स्तुति वाची का (विधीयेत्) अष्टा कपाल आदि विधि बतलाई है गुणार्थ नहीं।

भा०—यदि अष्टाकपाल का भिन्न अर्थ मान कर उन में गुण विधि मानी जावे तो अनेक इष्टियां माननी होगी और ऐसा मानना आरम्भ और अन्त की एक वाक्यता नष्ट होती है। और इससे एक ही इष्टि का विधान मिलता है कारण कि वैश्वानरं द्वादश कपालं निर्वपेत पुत्रे जाते "यहां से आरम्भ करके यस्मिन् जाते एतामिष्टिं निर्वपति पूत एकः संभवति" इस इष्टि के अन्त वाक्य तक एक ही इष्टि का उपसंहार किया है। यदि बीच में पढ़े गये अष्ट कपाल आदि भी गुण विधि होती तो उस प्रकार का उपसंहार ही क्यों किया जाता। अतः यह गुण विधि नहीं किन्तु अर्थवाद है।

सं०—यजमान शब्द को प्रस्तर (कुशमुष्टि) आदि में स्तुति अर्थकता का विस्तार करते हैं।

तत्सिद्धिः ॥ २३ ॥

प० क्र०—(तत्सिद्धि.) कुशमुष्टि आदि से यजमान का कार्य पाया जाता है।

भा०—जैसे यजमानः प्रस्तरः। " यजमान एक कपाल" इन अधिकरण वाक्यों में गुण विधि है अथवा अर्थवाद। इसका यह समाधान किया गया है जैसे द्वादश कपाल का अष्ट कपाल एक अवयव (भाग) है उसी प्रकार कुश मुष्टि (प्रस्तर) आदि

का यजमान अवयव नहीं किन्तु स्तुति कर्त्ता है ।

सं०—अग्नि आदि शब्द ब्राह्मण आदि के स्तुति वाची हैं ।

जातिः ॥२४॥

प० क्र०—ब्राह्मणादि वर्णों को जो अग्नि आदि संज्ञा से कहा है उसका कारण (जातिः) उत्पन्न गुण विशेष ही है ।

भा०—"अग्निर्वैब्राह्मणः" इन्द्रो राजन्यः 'वैश्योविश्वेदेवाः' इन वाक्यों में अग्नि आदि शब्द गुण के बतलाने वाले हैं अथवा अर्थवाद ब्राह्मण क्षत्रिय आदि के स्तुति वाची हैं । यहां अर्थ-वाद मानने से यद्यपि वाक्य व्यर्थ हो जाता है फिर भी गुण विधि मानना संगत नहीं । कारण कि अग्नि आदि स्वतन्त्र पदार्थ होने से ब्राह्मण आदि के गुण नहीं अतः (सिंहोऽयं देवदत्तः) यह देवदत्त सिंह है सिंह के क्रूरतादि गुण विशेषों की सादृश-यता से देवदत्त को सिंह कहा है । उसी प्रकार उद्भूत प्रकाश आदि गुण विशेष की समानता से ब्राह्मण आदि को अग्नि कहा है अतः ब्राह्मण अग्नि, क्षत्रिय, इन्द्र और वैश्य को विश्वदेव-कहा । यहां भी अर्थवाद है गुणविधि नहीं ।

सं०—यजमान आदि शब्दों को यूप का स्तुति कर्त्ता निरूपण करते हैं ।

सारूप्यात् ॥ २५ ॥

प० क्र०—(सारूप्यात्) यूप को आदित्य और यजमान कहा है, यह तेज तथा ऊंचाई की योग्यता से सादृश्य कहा है ।

भा०— जैसे यजमानों "यूप" आदित्यो यूपः यहां यजमान और 'यूप' में लम्बाई तथा घृत से चुपड़े यूप और सूर्य में तेज की समानता कही है । इसी सादृश्य से यूप को यजमान और आदि-

कहा गया है अतः दोनों के स्तुति कर्त्ता अर्थ वाद हैं।

सं०—अब अपशु आदि गौ आदि के सावक होने से प्रयोग किये गये हैं।

प्रशंसा ॥ २६ ॥

प० क्र० — (प्रशंसा) गौ और घोड़ा को छोड़कर छाग आदि सब अपशु हैं यहां गौ और अश्व की स्तुति है।

भा० — यहां भी इन वाक्यों में कि 'अपशवो वा अन्ये गो ऽश्वेभ्यः पशवो गो अश्वाः" अयज्ञो वा एष यो ऽसमा "असत्रं वा सत्रम् यदच्छन्दोमम्" आदि विधि वाक्य हैं अथवा अर्थवाद हैं। यद्यपि विधि मानने से यह सब वाक्य सार्थक हो जाते हैं तथापि ऐसा करना ठीक नहीं क्योंकि विधि होने से गौ, अश्व ही पशु संज्ञक होते हैं। बकरी आदि नहीं इसी प्रकार सामवाला और छन्दोम वाला यज्ञ ही सूत्र कहलाता है अन्य नहीं यह ठीक नहीं क्योंकि अजादि भी पशु हैं और साम और छन्दो रहित भी यज्ञ होते हैं अतः यह अर्थ वाद कि गौ अश्व अजादि से उत्तम पशु हैं और इसी प्रकार साम और छन्दोम रहित भी यज्ञ और सूत्र होते हैं जो उत्तम हैं अतः यहां केवल स्तुति की गई है विधि वाक्य नहीं कहे जा सकते।

सं० - जिन मन्त्रों में सृष्टि शब्द नहीं और असृष्टि शब्द भी नहीं उन मन्त्रों का सृष्टि शब्द से ग्रहण होता है!

भूमा ॥२७॥

प० क्र०—(भूमा) सृष्टिलिंग वाले मन्त्रों का भूयस्त्व होने से।

भा०—"सृष्टि रूप दधाति" वाक्य में सृष्टि शब्द सृष्टि तथा असृष्टि दोनो के लिये प्रयुक्त हुआ है और वहां अग्नि

संचयन कर्म का प्रकरण चल रहा है इनमें सृष्टि शब्द वाले मन्त्रों का इष्टिका (ईंट) के उपधान में गुण रूप से विधान पाया जाता है अथवा उनका अनुवाद करके सृष्टि असृष्टि दोनों शब्द वाले मन्त्रों से इष्टका के उपधान का विधान है यहां यद्यपि सृष्टि के साथ 'उपदधाति' क्रिया के साथ योग होने से सृष्टि शब्द वाले मन्त्रों का उपधान में गुण रूप से विधान होना योग्य है परन्तु यह असंगत है क्योंकि अग्निचयन कर्म के प्रकरण में पढ़े जाने से वह मन्त्र स्वयं आया है परन्तु उसका विधान नहीं किया जा सकता।

सं०—' प्राणभृत ' शब्द को लक्षणा से प्राण वाले तथा बिना प्राण वाले 'अप्रमाणभृत' उन सब मन्त्रों का अनुवादक निरूपण करते हैं ।

लिङ्ग समवायात् ॥ २८ ॥

प० क्र०—(लिङ्ग समवायात्) आरंभ पाये जाने से प्राणभृत मन्त्र की सब मन्त्रों से संगति है ।

भा०—जैसे "प्राणभृत उप दधाति" में प्राणभृत शब्द प्राण एवं अप्राणभृत दोनों प्रकार के मन्त्रों का अनुवादक है । तो शंका होती है प्राण शब्द वाले मन्त्रों के उपधान में गुण रूप विधान है अथवा लक्षणावृत्ति से प्राण तथा अप्राणभृत दोनों प्रकार के मन्त्रों का अनुवाद करके इष्टका के उपाधान की विधि है ! कहते हैं कि यद्यपि प्राणभृत क्रिया का उपदधाति क्रिया से योग होने से प्राण शब्द वाले मन्त्रों का उपधान में गुण रूप से विधि माननी चाहिये और अनुवाद नहीं क्योंकि यदि अनुवाद माने तो लक्षणा माननी पड़ेगी । फिर भी गुण रूप से विधान मानना असंगत है क्योंकि ऐसा करने से मन्त्र अनर्थक होते हैं ।

सं०—संदिग्ध अर्थ का वाक्य शेष से निर्णय निरूपण करते हैं।

सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् ॥२९॥

प० क्र०—'सन्दिग्धेषु' विहित अर्थों में भ्रम होने पर (वाक्य शेषात्) वाक्य शेष से निर्णय होता है।

भा०—जैसे कहा कि अग्नि कुण्ड में उपधान के लिये शक्कर को घी से चुपड़ना (मिलाना) अथवा तेल से। यद्यपि इस वाक्य में शक्कर का केवल चुपड़ना मात्र कहा है तो भी तैल से चुपड़ी शक्कर का वहां अग्रहण है क्योंकि वहां निर्णायक वाक्य नहीं है परन्तु घृत का उसकी तेजस्विता रूप प्रशंसात्मक 'तेजो वै घृतम्' वाक्य शेष विद्यमान है अतः तैल-शर्करा अञ्जन निरर्थक सा हो जाता है अतः उस वाक्य में घी से भीगी हुई शक्कर ही ली गई है तैल युक्त नहीं।

सं० -पदार्थ योग्यतानुसार अर्थ निर्णय करते हैं।

अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात् ॥३०॥

प० क्र०-(अर्थात्) अन्य निश्चय करने वाले चिन्हों के न होने पर पदार्थ की क्षमता से (वा) ही अर्थ के निश्चय की (कल्पना) ऊहा होती है क्योंकि (एक देशत्वात्) कल्पना से भी अर्थ निर्णय हो सकता है।

भा०—यज्ञ में प्रयोजनीय घी आदि पदार्थों को उनकी योग्यता-नुसार स्रुवा आदि से भाग विशेष का भिन्न करना इस भाव से इन वाक्यों में स्रुवा आदि ग्रहण है। अथवा कभी स्रुवा से, कभी स्वधिति से, कभी हस्त से अवदान करना इस भाव से ग्रहण है तो कहते हैं कि आग में घी आदि विभिन्न पदार्थों का उपयोग होता है जो शीघ्र में अत्यन्त कठिन होने से स्रुवा तथा

हाथ से अवदान होना कठिन है अतः विकल्प प्रयोजन से उनके ग्रहण की कल्पना असंगत है किन्तु स्रुवा से अवदान योग्य पदार्थों का स्रुवा से, स्वधिति के योग्य स्वधिति से और हाथ के योग्य पदार्थ का हाथ से अवदान श्रेष्ठ है और पदार्थ योग्यता से कल्पना भी ठीक होती है अतः पदार्थ योग्यता से वहां स्रुवादि ग्रहण है न कि विकल्प अभिप्राय से। यहां जैसे पदार्थ योग्यता से उनके अवदान का निरूपण है उसी प्रकार सर्वत्र योग्यतानुसार अर्थ का भी निर्णय जानना चाहिये।

इति श्री मीमांसा दर्शने प्रथमाध्यायस्य चतुर्थ पादः समाप्त।

अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः प्रारभ्यते।

सं०—प्रथम अध्याय में वेदानुकूल वर्मों को धर्म बतला या अब उसके भेदों को बतलाते हैं।

भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते ॥१॥

प० क्र०—(भावार्थः) याग, होम, दान तथा प्रत्ययांश से धात्वंश से भावना वाची (कर्म शब्दाः) यजेति, जुहोति ददाति आदि क्रिया पद (तेभ्यः) उनसे (क्रिया) याग होम दान रूप कर्त्तव्य काम का (प्रतीयेत) ज्ञान होता है और (एषहि) यही (अर्थ) क्रिया रूप का भाव (विधीयते) धर्म कहा गया है।

भा०—जैसे कहा गया है कि 'सोमने यजेत् स्वर्ग कामः' 'दर्श पूर्ण मासाभ्यां स्वर्ग कामो यजेत्' अग्निहोत्रं 'जुहोति हिरण्य मात्रेया' पदाति यह सब ज्योतिष्टोम यज्ञ के कामना मन्त्र हैं इनमें नाम और आख्यातान्त समस्त पद धर्म को कहते हैं अथवा

यजेत्, जुहोति, आदि आख्यातान्त पद स्वयं ही धर्म के कथन करने वाले हैं। इसका समाधान यह है कि धर्म द्रव्य गुण रूप किसी वस्तु विशेष की संज्ञा नहीं परन्तु सोम घी आदि नाना वस्तुओं का और पुरुष के उद्योग से सिद्ध वेदानुकूल याग, होम, दान आदि रूप कर्त्तव्य विशेष का नाम धर्म है और उनका ज्ञान यजेत् जुहोति आदि आख्यातान्त पदों से होता है अतः सर्वत्र विधि वाक्यों में विद्यमान नाम और आख्यातान्त पदों के बीच केवल आख्यातान्त पद ही धर्म के निरूपक हैं।

सं०—इस अर्थ में आशंका करते हैं।

सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत् ॥२॥

प० क्र०—(सर्वेषां) सोम, घी इत्यादि पदार्थों का (अर्थः) साधन करने योग्य अर्थ (भाव) यज्ञादि क्रिया ये हैं अतः नाम पद भी धर्म के निरूपक हैं (चेत्) यदि (इति) इस प्रकार कहा तो ठीक नहीं।

भा०—जैसे थाली आदि उपकरणों के बिना पाक क्रिया नहीं होती और न उसका भात (चावल) पकाने का सिद्धफल ही उपलब्ध हो सकता है। उसी प्रकार सोम घी आदि पदार्थों के बिना याग आदि क्रिया भी नहीं हो सकती और न उससे होने वाले फल की प्राप्ति हो सकती है इसलिये विधि वाक्य में विद्यमान क्रिया पद समान नाम पद भी फल के साधन धर्म के कहने वाले हैं न कि केवल आख्यातान्त पद ही।

सं०—आगे के दो सूत्रों में नाम और आख्यातान्त पदों के लक्षण द्वारा शंका निवारण करते हैं।

येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि

नामानि तस्मात्तेभ्यः पराकांक्षाभूतत्वात्स्वे प्रयोगे ॥३॥

प० क्र०—(स्वे) अपने अर्थ (प्रयोगे) प्रयोग होने पर (येषां) जिन पदों का (उत्पत्तौ) बोलने के समय में (रूपोपलब्धिः) अपने अर्थ की प्राप्ति होती है (तानि) उनको (नमामि) नाम कहते हैं और (तस्मात्) बोलने के समय अर्थोपलब्धि होने से (तेभ्यः) वह (पराकांक्षा) स्वार्थ सिद्धि के निमित्त अन्य की इच्छा रहित हैं क्योंकि (स्वे, प्रयोगे) उनके बोलने काल में (भूतत्वात्) अर्थ रहता है।

भा०—अर्थ दो प्रकार के होते हैं सिद्ध और साध्य। जो अर्थ अपने वाचक पदों के बोलने की अवधि में विद्यमान हैं और अपनी सिद्धि के निमित्त अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रखते वहां सिद्ध और उनके वाचक पदों की 'नाम' संज्ञा है सोमादि द्रव्य गुण वाची शब्द का उदाहरण है जो अर्थ अपने वाचक पदों के बोलने काल में न हों किन्तु बोलने काल के पश्चात् द्रव्य आदि विभिन्न साधनों तथा पुरुष के उद्योग से उत्पन्न हो वह 'साध्य' और उनके वाचक 'आख्यात' कहे जाते हैं। जैसा कि यजति, जुहोति और ददाति के बोलने के समय याग होम दानादि अविद्यमान थे परन्तु पुरुषार्थ के पश्चात् होते हैं।

सं०—इनके ज्ञान की क्या आवश्यकता है।

येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगे न विद्यते तान्याख्यातानि तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेताऽऽश्रितत्वात्प्र-

योगस्य ॥४॥

प० क्र०—(तु) फिर (ऐषां) जिन पदों के (उत्पत्तौ) उत्पन्न अर्थात् उच्चारण समय में (अर्थे, स्वे) निज अर्थ में (प्रयोगः) उच्चारण (न विद्यते) न हो (तानि) उनको (आख्यातानि) आख्यात कहते हैं और (तस्मात्) इसी कारण (तेभ्यः) उनसे (प्रतीयेत्) धर्म जाना जाता है कारण कि (प्रयोगस्य) उनका प्रयोजन (आश्रितत्वात्) पुरुष प्रयत्न पर आश्रित है।

भा०-जिन पदों के अर्थ बोलने के समय न हों किन्तु द्रव्य आदि विभिन्न साधनों और पुरुष के उद्योग के अनन्तर सिद्ध हो उन्हें आख्यात् कहते हैं।

सं०—यागादि कर्मों से भविष्यत् का फलारंभ क्यों पाया जाता है।

चोदना पुनरारम्भः ॥५॥

प० क्र०—(पुनः) जिस लिये (चोदना) उक्त कर्मों की प्रेरणा अर्थात् विधि वेद में मिलती है और उनसे (आरम्भः) भविष्यत् फल का आरम्भ होता है।

भा०—जैसे लौकिक मनुष्यों के किये हुये कर्मों का कर्म फल होता है उसी प्रकार याग, होम दानादि कर्म जो परमात्मा की आज्ञा से किये जाते हैं उनसे भावी फल का आरम्भ होता है।

सं०-विधि वाक्यों में विद्यमान आख्यात निरुपण कर अब उनके विभाग कहते हैं।

तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥६॥

प० क्र०—[तानि] वह क्रियापद [द्वैधं] दो भांति के हैं

[गुणप्रधान भूतानि] एक गौण कर्म के निरूपक और दूसरे प्रधान कर्म के बतलाने वाले हैं ।

भा०—क्रिया पद अर्थात् आख्यात दो प्रकार के हैं एक गुणभूत और दूसरा प्रधानभूत । जो गौण कर्मों के निरूपक हैं उन्हें गुणभूत और प्रधान कर्मों के प्रतिपादक को प्रधानभूत कहते हैं ।

सं०—प्रधानभूत का यह लक्षण है ।

यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥७॥

प० क्र०—[यैः] जो कर्म [चिकीर्ष्यते] संस्कार के निमित्त [द्रव्यं] द्रव्य की अपेक्षा [न] नहीं करते [तानि] वे [प्रधान भूतानि] प्रधान कर्म हैं । कारण कि [द्रव्यस्य] द्रव्य का [गुण भूतत्वात्] उनके प्रति गौण है ।

भा०—जो कर्म द्रव्य के न संस्कार करने वाले हैं न उत्पन्न करने वाले ही हैं किन्तु स्वयं ही द्रव्य साधक हैं वह प्रधान कर्म कहलाते हैं जैसे याग, होम दान इत्यादि ।

सं०—अब गौण कर्म का लक्षण करते हैं ।

यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत तस्य द्रव्यप्रधानत्वात् ॥८॥

प० क्र० - [तु] तथा [यै] जो कर्म [चिकीर्ष्यते] संस्कारादि के निमित्त [द्रव्यं] द्रव्य की अपेक्षा वाले हैं [तत्र] वहां उन कर्मों में [गुणः] गौणता [प्रतीयेत] समझनी चाहिये क्योंकि [तस्य] उन कर्मों के लिये [द्रव्य प्रधानत्वात्] द्रव्य प्रधान मुख्य है ।

भा०—जो कर्म द्रव्य के संस्कारक और उत्पन्न करने वाले हैं और स्वयं द्रव्य साध्य नहीं उन्हें गौण कर्म कहते हैं 'जैसे व्रीहीन वहन्ति' धानों को कूटो। तण्डुलानि, पिनष्टि, चावलों को पीसो। यह कर्म द्रव्य के संस्कार कहलाते हैं और 'यूपं तक्षति' खम्भे को बनावे 'आहवनीय माद्धाति' अग्न्याध्यन करे कर्म गौण कहे जाते हैं क्योंकि यह कर्म संस्कार एवं उत्पत्ति के निमित्त द्रव्य पर अवलम्बित हैं अर्थात् हम किस का संस्कार और किस की उत्पत्ति करें। इस प्रकार द्रव्याकांक्षा बनी रहती है। अर्थात् जिन कर्मों का फल अदृष्ट हो वह प्रधानकर्म और जिनका दृष्ट है वह गौण कर्म होते हैं।

सं०—सम्मार्जन को गौण कर्म बतलाते हैं।

धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिवृ'तेः प्रयाजवत् ॥९॥

प० क्र०—(तु) शब्द का पूर्व पक्ष संकेत निमित्त हैं (प्रयाजवत्) जिस प्रकार 'प्रयाज' कर्म है उसी प्रकार (धर्म मात्रे) स्रु वादि के धर्म मात्र सम्मार्जन भी (कर्म) प्रधान कृत्य (स्यात्) हैं कारण कि उनसे (अनिष्टतेः) किसी दृष्ट की सृष्टि नहीं पाई जाती।

भा०—'स्रु वः सम्मार्ष्टि' 'अग्नि सम्मार्ष्टि' परिधि सम्मार्ष्टि पुरोडाशं पर्य्यग्नि करोति इत्यादि वाक्य दर्श पूर्णमास याग प्रकरण में पढ़े गये हैं। स्रु वः अग्नि और परिधि का सम्मार्जन एवं पुरोडाशं का पर्य्यग्नि करण प्रधान कर्म है अथवा गौण। क्योंकि जैसे 'अवहनन' कूटना आदि कर्म का तुष विमोकादि भूसी प्रथक्करण आदि प्रत्यक्ष फल हैं उसी प्रकार सम्मार्जादि कर्म भी अदृष्ट फल रहित है अतः 'प्रयाज' कर्म के सदृश सम्मार्जन भी प्रधान कर्म है और वह प्रधान कर्म होने से

प्रयाज सदृश हैं।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं ।

तुल्यश्रुतित्वाद्ध तरैः सधर्मः स्यात् ॥१०॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष परिहारार्थ प्रयोग है (इतरैः) कूटने आदि कर्म के (सधर्मः) सदृश (स्यात्) हैं क्योंकि (तुल्य श्रुति त्वात्) दोनों का एक प्रकार से उपदेश मिलता है ।

भा०—जिस प्रकार कूटना पीसना दृष्टि फल द्योतक नहीं उसी प्रकार सम्मार्जनादि भी नहीं है परन्तु वह उनके समान गौण कर्म मानना चाहिये । इसलिये कि द्रव्य प्रधानता की बतलाने वाली द्वितीया विभक्ति का उपदेश दोनों स्थानों में एक सा है और कर्त्ता के ईप्सिततम की कर्म संज्ञा वाला माना हैं और जो ईप्सिततम होगा वही प्रधान होगा अतः याग के लिये उपयोगी बनाने योग्य क्रिया तुष रहित धान कर्त्ता को ईप्सिततम है इसी भांति स्रुवा के सम्मार्जन आदि भी कर्त्ता को ईप्सिततम है ।

सं०—इसका समाधान करते हैं ।

द्रव्योपदेश इति चेत् ॥११॥

प० क्र० —(द्रव्योपदेशः) स्रुचः सम्मर्ष्टिः में जो द्वितीयान्त चः पद से स्रुवः द्रव्य का उपदेश है वह गौण रूप से है न कि प्रधानता से (चेत्) यदि (इति) इस प्रकार का कहो तो असमीचीन है ।

भा०—जहां ऐसा आता है कि 'सक्तू न जुहोति' 'एक कपालं जुहोति' अर्थात् सत्तुओं से होम करे अथवा एक कटोरे में पड़े पुरोडाश से हवन करे इन वाक्यों में सक्तु आदि गौण द्रव्य

का द्वितीया विभक्ति से बतलाया है ऽसी प्रकार स्रु चः सम्मार्ष्टि आदि में भी स्रु वादि द्वितीया विभक्ति से बतलाया है न कि स्रु वादि के प्रधान से ।

सं०—अब इसका समाधान करते हैं ।

न तदर्थत्वाल्लोकवत्तस्य च शेषभूतत्वात् ॥१२॥

प० क्र०—(न) नस्रु चः सम्मर्ष्टि 'आदि में गुण रूप से स्रु वाः आदि द्रव्यों का उपदेश नहीं, कारण कि (लोकवत्) जैसे लोक में कहते हैं कि 'ग्रामं गच्छति' इसी प्रयोग की भांति (तदर्थ त्वात्) उसमें उपदिष्ट द्वितीया विभक्ति को कमर्थित्व है (च) फिर (तस्य) वह स्रु वादि सब द्रव्य (शेष भूत त्वात्) घी आदि के रखने आदि से उनके शेष हैं ।

भा०—सत्तु आदि द्रव्य केवल होम के साधन हैं न कि किसी अन्य कार्य में आने वाले हैं क्योंकि उनका हवन करने से वह भस्मीभूत हो जाते हैं इसी कारण 'सक्तू न जुहोति' में लक्षण वृत्ति से करणर्थिक द्वितीया विभक्ति की कल्पना द्वारा सक्तु आदि का गुणरूपेण आदेश मानना ही ठीक है परन्तु स्रु चः सम्मार्ष्टि में उपदिष्ट द्वितीया विभक्ति को करणार्थकता नहीं मान सकते क्योंकि सम्मार्जन से भिन्न यज्ञ के उपयोगी घी आदि रखने में सम्मार्जित स्रु वा आदि का विनियोग है जो बिना कर्म में द्वितीया माने हो ही नहीं सकता। विशेषकर जब कर्म इप्सिततम होने से प्रधान माना गया है। अतः यह उदाहरण समीचीन नहीं ।

सं०—अब स्तोत्र तथा शस्त्र को प्रधान कर्म सिद्ध करते हैं ।

स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावद्देवताभिधा-

नत्वात् ॥१३॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व पक्ष का द्योतक है (स्तुत शस्त्रयोः) स्तोत्र और शस्त्र (संस्कारः) संस्कार कर्म है। वह (याज्यावत्) याज्या ऋचा की सदृश (देवता विधान त्वात्) गुण कथन से परमात्मा के स्वरूप को कहते हैं।

भा०—'याज्या' द्वारा याग के आरम्भ में अध्वर्यु खड़ा हो कर ईश वन्दना करता है और जिन मन्त्रों से स्तुति की जाती है। यह स्तोत्र और बिना गाये स्तुति करने का नाम शस्त्र है। अब ज्योतिष्टोम में स्तोत्र शस्त्र गुण कर्म है अथवा प्रधान कर्म। जैसे याज्या ऋचा गुण निरूपण से ईश्वर का स्वरूप बतलाती है उसी प्रकार स्तोत्र शस्त्र भी गुण कीर्तन करते हैं। इस प्रकार का अनुस्मरण भूसीदूर करने की भांति परमात्म संस्कार-विशेष है। जहां संस्कार्य संस्कारक भाव हों वहां संस्कार्य प्रधान और संस्कार गौण होता है। अतः यह गौण कर्म है न कि प्रधान। वेदों में एक सच्चिदानन्द ही देवता माना है अन्य नहीं। अतः उसे "अग्नि मित्रं वरुणमग्नि माहुरथो दिव्यस्य सुपर्णोगरुत्मान एकं सद्विप्राबहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वान-माहुः आदि परमात्मा के ही प्रकाश गुण प्रधानता से कथन किया जाता है। इसी प्रकार नामों की प्रवृत्ति का भी उसके गुण के अनुसार प्रधानता दी जाती है क्योंकि एक प्रभु के अनन्त गुण, अनन्त वीर्य, अनन्त पराक्रमादि गुण हैं जिस ऋचा में जिस नाम से स्तुति है वही उसका देवता माना जाता है ऐसी ऋचा आग्नेयी, ऐन्द्री, वारुणी आदि नाम से हैं अन्तः इन्द्र, अग्नि, वरुण महेन्द्र कोई भिन्न देवता नहीं।

सं०— स्तोत्र तथा शस्त्र कर्म सम्बन्धी आक्षेप का समाधान

यह है ।

अर्थेन त्वपकृष्येत देवतानामचोदनार्थस्य गुण भूतत्वात् ॥१४॥

प० क्र०—(तु) शब्द पूर्व पक्ष का परिहार करता है (देवता नाम चोदना) यदि स्तोत्र शस्त्र को गुण कर्म माना जाता है तो उन मन्त्रों का जिनमें इन्द्रादि देवता के नाम से स्तुति वाले मन्त्र का (अर्थेन) अर्थानुकूल (अपकृष्येत) अपकर्ष होना चाहिये । क्योंकि (अर्थस्य) देवता रूप अर्थ के लिये (गुण भूत त्वात्) मन्त्र गुण भूत हैं ।

भा०—स्तोतव्य पदार्थ मय गुणों के कथन को स्तुति अथवा प्रशंसा करते हैं । गुणों के कथन से वस्तु - स्वरूप को बतलाने का नाम स्तुति नहीं है जैसे ' यज्ञदत्तश्चतुर्वेदा भिज्ञः' यज्ञदत्त चारों वेदों का ज्ञाता है इस वाक्य में स्तुति योग्य देवदत्त में चारों वेदों का ज्ञान गुण सम्बन्ध कहने से स्तुति पाई गई । यदि इसी को ' चतुर्वेदी' 'है उसे लाओ' परन्तु इसमें कोई नहीं पाई जाती इसी प्रकार स्तोत्र शस्त्र को भी गुण कथन से देवता में प्रशंसात्मक गुणों के सम्बन्ध का साथी मानना चाहिये । अतः 'आज्यैस्तवते' अथवा 'आग्यैर्देवं प्रकाशते' यह वाक्य स्पष्ट हो जाते हैं । और दोनों का भेद भी जाना जाता है । देवता मन्त्र गुण भूत और मन्त्र प्रधान होते हैं । जहां जिसके पास पढ़ा गया होगा वही रह कर वह स्तुति कर्त्ता हो सकता है और इसी से मुख्यार्थ लाभ होने पर ' स्तौति तथा 'शंसति' धातु की अर्थ में लक्षणा भी न करनी पड़ेगी अतः यही समीचीन है कि स्तोत्रशास्त्र प्रधान कर्म है न कि गौण कर्म है माने जावे ।

सं०—पुनः आशंका करते हैं ।

वशावद्वा गुणार्थं स्यात् ॥१५॥

प० क्र०—'वा' शब्द शब्दार्थ है (वशावत्) जैसे वशा सम्बन्धी 'गुण वाली अजा' के स्मरण के लिये उसका विशेष्य वाचक 'छाग' पद घटता है और 'एष छाग' यह मन्त्र पढ़ा जाता है उसी प्रकार (गुणार्थः) बड़े गुण वाले इन्द्र के स्मरण में 'अभित्वा' शूर नो नुमः यह मन्त्र (स्यात्) माहेन्द्रग्रह याग की समीपता में पढ़ा गया है ।

भा०—स्तोत्र शस्त्र को गुण कर्म मान कर ऐन्द्र प्रगाथ मन्त्र "अभित्वा शूरनोनुमः" का अपकर्ष (जिस प्रकरण में जो पाठ है वहां से उठा कर जहां देवता हो ले जाना) रूप दोष बतलाना ठीक नहीं क्योंकि मन्त्र का महत्व गुण विशेष 'इन्द्र' उसके ही स्मरण में माहेन्द्र ग्रह याग की समीपता में पढ़े गये हैं । सगुण का अभिधान निर्गुण शब्द से होता है जैसे 'वशा' विशिष्ट गुण से अजा (बकरी) जैसे कहा कि "सावा एषा सर्व देवत्या यदजावशा वायव्या मालभते" अर्थात् अपने सौम्य गुणों से सबके आधीन रहने वाली यह 'अजा' सर्व गुण सम्पन्न परमात्मा के उद्देश्य से प्रदत्त महान् पुण्य-जनक होती है । अतः प्रजा-रक्षक 'वायु' परमात्मा के उद्देश्य से इसका उत्सर्ग करे ।

सं०—उस शंका का निराकरण करते हैं ।

न श्रुतिसमवायित्वात् ॥१६॥

प० क्र०-(न) वह मन्त्र महेन्द्र के अभिधायक नहीं क्योंकि उनमें (श्रुति) समवायत्वात् इन्द्र पद से सम्बन्ध है ।

भा०—माहेन्द्र ग्रह याग की सन्निधि में जो मन्त्र पढ़े हैं वह माहेन्द्र शब्द कि जिस देवता अर्थ में तद्धित प्रत्यय करने से ऐसा बनता है कि "महेन्द्रो देवता अस्य ग्रहस्य अर्थात् महेन्द्र है देवता जिसका पात्र वह माहेन्द्र कहा जाता है। प्रत्यय का स्वभाव है कि जिस प्रकृति के आगे होगा उसके साथ मिलकर ही अपने अर्थ का बोधक होता है न कि प्रकृति के एक देश का।

सं०—इन्द्र और महेन्द्र के भिन्न होने में हेतु देते हैं।

व्यपदेशभेदाच्च ॥१७॥

प० क्र०—(च) और (व्यपदेशभेदात्) नाम मात्र भेद से इन्द्र और महेन्द्र भिन्न २ हैं।

भा०—इन्द्र और महेन्द्र की प्रवृत्ति का निमित्त साधारण और महान् ऐश्वर्य है। निमित्त भेद से नैमित्तिक भेद का होना स्वाभाविक है अतः परमात्मा का इन्द्र और महेन्द्र रूप से भेद मानना चाहिये अतएव दर्श पूर्ण मास यज्ञ में 'बहु दुग्धीन्द्राय' बहु दुग्धि महेन्द्राय हविः इसका भेद भी विस्पष्ट कहा जाता है अतः दोनों का भेद है।

सं०—और भी युक्ति देते हैं।

गुणश्चानर्थकः स्यात् ॥१८॥

प० क्र०—(च) इन्द्र और महेन्द्र को एक ही स्वीकार करने से (गुणः) महान् विशेषण (अनर्थकः) वृथा (स्यात्) हो जाते हैं।

भा०—जिस विशेषण ने अपने विशेष्य को अन्य से न संयुक्त किया वह विशेषण व्यर्थ होता है 'महान्' विशेषण और 'इन्द्र' विशेष्य यदि अपने विशेष्य को अन्य से न युक्त करे तो वृथा

होता है अतः इन्द्र तथा महेन्द्र को एक मानना ठीक नहीं।

सं० —दोनों में भिन्नता होने में और भी युक्ति देते हैं।

तथा याज्यापुरोरुचोः ॥१६॥

प० क्र० —(याज्या पुरोरुचोः) यदि दोनों एक ही माने जावें तो 'याज्या' तथा 'पुरोऽनुवाक्या' ऋचाओं में दोनों का भेद पूर्वक कथन (तथा) अर्थहीन हो जावेगा।

भा०—याग के आरम्भ में इन दो मन्त्रों को अध्वर्यु खड़ा हो कर पढ़ता है कि 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि' याज्या तथा पुरोऽनुवाक्या मन्त्र कहलाते हैं। इनमें इन्द्र के पर्याय परमात्मा की स्तुति है अतः यह ऐन्द्र याज्या पुरोऽनुवाक्या कहते हैं। महां इन्द्रो य ओजसा इन दो मन्त्रों का नाम माहेन्द्र याज्या और पुरोऽनुवाक्या' है इन महेन्द्र नाम से परमात्मा की स्तुति है यदि इन्द्र महेन्द्र दोनों एक माने जावेंगे तो याज्या पुरोऽनुवाक्या का विकल्प मानना पड़ेगा।

सं०—' वशावत्' इस दृष्टान्त का समाधान करते हैं।

वशायामर्थसमवायात् ॥२०॥

प० क्र०—(वशाया) वशा अजा (बकरी) में (अर्थसमवात्वात्) छाग रूप अर्थ का योग पाये जाने से दिया हुआ दृष्टान्त ठीक नहीं।

भा०—जैसे वशा गुण विशेष वाली अजा का निरूपण करके ' एष छागः' इस मन्त्र में केवल अजा वाचक 'छाग' शब्द से विधान किया गया है उसी प्रकार महत्व विशिष्ट इन्द्र का निरूपण करके 'अभित्वा शूर नो नुमः' इस मन्त्र में केवल इन्द्र शब्द से विधान किया है यह पूर्व कथित दृष्टान्त ठीक नही। क्योंकि 'छाग'

शब्द वशा-वाली अजा विशेष का ही अनुगामी है न कि अजा मात्र का। परन्तु इन्द्र शब्द महत्व शिष्ट 'इन्द्र' का अनुगामी नहीं किन्तु इन्द्र मात्र का है अतः वशा विशिष्ट अजा का विधान करके इन्द्र शब्द से निरूपण नहीं किया जा सकता क्योंकि वशापन एक ऐसा धर्म है जो अजा व्यक्ति को छोड़ नहीं सकता और महत्व उससे विरुद्ध है। अतः छाग शब्द वशा विशेष अजा का अभिधायक है यह सम्भव है परन्तु इन्द्र शब्द महत्व विशेष इन्द्र का नहीं। इसी भाव से दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में विषमता होने से इन्द्र शब्द महेन्द्र का अभिधायक नहीं और अपकर्ष से दोष होने से स्तोत्र शस्त्र के गुण कर्म मानने में दोष है अतः वह प्रधान कर्म है।

सं०—अपकर्ष में इष्टापत्ति से सन्देह दिखाते हैं।

यन्त्रेति वाऽर्थवत्त्वात् स्यात् ॥२१॥

प० क्र०—'वा' शब्द आशंका की सूचनार्थ आया है (यत्र) जिस याग में इन्द्र देवता हो उसमें (इति) पूर्व पठित 'अभित्वा शूरनो नुमः' आदि ऐन्द्र प्रगाथ मन्त्रों का अपकर्ष (स्यात्) हो। कारण कि (अर्थवत्वात्) वह अर्थवाद हो जाते हैं।

भा०—यदि 'अभित्वा शूरनो नुमः' इस ऐन्द्र प्रगाथ मन्त्र में महेन्द्र का अभिधान, महेन्द्र याग की समीपता में पढ़े जाने से नहीं किया जा सकता। और इन्द्र का अभिधान करने से अर्थ देते हैं तो जिस याग का इन्द्र देवता है वहां उनका अपकर्ष होने में कोई हानि नहीं।

सं०—इस शंका का उत्तर देते हैं।

न त्वाम्नातेषु ॥२२॥

प० क्र०—(आम्नातेषु) ऐन्द्र प्रगाथ मन्त्रों के सिवाय 'याम्यादि' मन्त्रों में (ननु) नहीं तो अर्थ वाला घट नहीं सकता ।

भा०—स्तोत्र शस्त्र को गुण कर्म स्वीकार करने से इस अभित्वा शूरनो नुमः आदि मन्त्रों को अपकर्ष होने से अर्थ वाला हो सकता है परन्तु जिन मन्त्रों में यम नामक परमात्मा का स्तुति-वाची मन्त्रों से प्रशंसा करें अर्थात् विशिष्ट शब्द वाली ऋचाओं से परमात्मा का स्तवन करे और प्रजा-पालन तथा प्रकाश गुण विशेष परमात्मा की अग्नि मारुत शब्द युक्त मन्त्रों से स्तवन करे तो वहां मन्त्रों को अपकर्ष होने से अर्थवाला नहीं हो सकता और अपकर्ष अवश्य करना पड़ेगा क्योंकि जिस स्थान तथा जिसकी समीपता में उसका पाठ है वहां से वह अन्य के अनुगामी नहीं हो सकते अतः अपकर्ष मानना समीचीन नहीं ।

सं०—पुनः आशंका करते हैं ।

दृश्यते ॥२३॥

प० क्र०—(दृश्यते) याम्यादि मन्त्रों को भी अन्यत्र अर्थ वाला पाते हैं ।

भा०—जिस प्रकार ऐन्द्र प्रगाथ मन्त्रों का इन्द्र देवता सम्बन्धी याग में अपकर्ष सप्रयोजन है उसी प्रकार उस उस देवता के यागों में याम्यादि मन्त्रों का अपकर्ष भी अर्थ वाला है निरर्थक नहीं । अतः स्तोत्र शस्त्र को गुण कर्म मानना ही उचित है ।

सं०—इस आशंका का निवारण करते हैं ।

अपि वा श्रुतिसंयोगात्प्रकरणे स्तौतिशंसती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम् ॥२४॥

प० क्र०—"अपि वा" आशंका दूर करने को पद का प्रयोग है। (स्तौति शंसती) स्तोत्र और शास्त्र (प्रकरणे) प्रकरण में ही (क्रियोत्पत्ति) स्तुति रूप क्रिया का (विदध्याताम्) विधान करते हैं क्योंकि ऐसा करने से उनको (श्रुति संयोगात्) मुख्यार्थ का योग होता है।

भा०—स्तोत्र शस्त्र का मुख्य अर्थ 'स्तुति' और देवता के स्वरूप का अभिधान गौण अर्थ है। गौण की अपेक्षा मुख्य उत्तम होता है। यदि मुख्य अर्थ का लाभ हो सके तो गौण अर्थ क्यों ग्रहण करे। गौण अर्थ मानने से प्रकरण विच्छेद है और अन्य मन्त्रों का अपकर्ष भी स्वीकार करना पड़ता है। स्तुति रूप मुख्य अर्थ के मानने में दोनों दोष नहीं आते।

सं०—स्तोत्र शस्त्र के प्रधान कर्म होने में हेतु भी है।

शब्दपृथक्त्वाच्च ॥२५॥

प० क्र—(च) तथा (शब्द पृथकत्वात्) स्तोत्र अथा शस्त्र शब्द का अन्तर पाये जाने से भी वह प्रधान कर्म है।

भा०—स्तोत्र तथा शस्त्र का भेद पाये जाने से भी एक मुख्य तथा दूसरा गौण है। और यदि स्तोत्र शस्त्र को प्रधान कर्म मानेंगे तो स्तोत्र जन्य तथा शस्त्र जन्य दो फल होने से उनका भेद पूर्वक विधि भी सफल हो जाती है और गुण मानने से देवता स्वरूप का अनुस्मरण रूप एक ही फल दिखलाई देता है। और भेद उत्पन्न नहीं होता क्योंकि देवता स्मरण लक्षण फल एक से ही हो सकता था दोनों के विधान की आवश्यकता न थी। परन्तु भेद होने से वह किसी विजातीय फल के उद्देश्य से हैं न कि देवता स्मरण लक्षण दृष्ट फल निमित्त। अतः स्तोत्र शस्त्र प्रधान कर्म है न कि गौण।

सं०—स्तोत्र शस्त्र का देवता स्मरण लक्षण एक ही दृष्ट फल हो तो हानि ही क्या है।

अनर्थकं च तद्वचनम् ॥२६॥

प० क्र०—(च) तथा स्तोत्र शस्त्र उभय का एक फल स्वीकार करने से (तद्वचनं) दोनों की विधि निरूपण (अनर्थकं) असफल हो जायगी।

भा०—यदि एक ही विधि-विधान से उभयफल मिल सकें तो दोनों का विधान वृथा हो जायगा।

सं०—प्रधान कर्म मानने में दोष का परिहार दर्शन।

अन्यश्चार्थः प्रतीयते ॥२७॥

प० क्र०—(च) तथा प्रधान कर्म मानने से (अन्यः) स्तोत्र जन्य कर्मों के अतिरिक्त (अर्थ) शस्त्र से उद्भूत फल (प्रतीयते) उपलब्ध होता है।

भा०—प्रधान कर्म मानने से स्तोत्र उद्भूत एवं शस्त्र उद्भूत पृथक्-पृथक् अदृष्ट फलों की उपलब्धी होती है जिससे उभय का विधि विधान प्रयोजनीय होता है और गुण कर्म मानने से विरुद्ध फल होता है। अतः गुण कर्म के समान प्रधान कर्म स्वीकार करने में वह दोष नहीं रहता।

सं०—स्तोत्र तथा शस्त्र के प्रधान कर्म मानने में और भी हेतु है।

अभिधानं च कर्मवत् ॥२८॥

प० क्र०—(च) तथा एवं (कर्मवत्) प्रधान कार्य सदृश (अभिधानं) स्तोत्र शस्त्र का विधान है।

भा०—'दर्श पूर्ण मासाभ्यां यजेत्' और 'अग्नि होत्रं जुहोति'

दोनों में अग्निहोत्रादि प्रधान कर्मों का ही अभिधान पाया जाता है।

सं०—और भी हेतु देते हैं।

फलनिर्वृत्तिश्च ॥२९॥

प० क्र०—(च) तथा स्तोत्र एवं शस्त्र दोनों के (फल निर्वृत्तिः) फल सिद्धि सुनी गई है।

भा०—इन वाक्यों में कि जहां यह आता है कि 'एष वै स्तोत्र शस्त्रयोर्दोहः' अर्थात् यह स्तोत्र शस्त्र कर्म का फल है। इस भांति दोनों के भिन्न फल हैं और दोनों प्रधान कर्म हैं यदि गौण होते तो फल भी न सुनने में आता क्योंकि प्रधान कर्म के फल से ही गौण कर्मों के फल होते हैं वह स्वतन्त्र फलदायक नहीं होते। अतः प्रधान कर्म का ही फल होता है न कि गौण का। न उस देवता के कि जिसके वह गुणभूत हैं।

सं०—विधान करने तथा न करने भेद से वेद दो प्रकार का है। अब यह निरूपण करते हैं।

विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात् ॥३०॥

प० क्र०—(विधिमन्त्रयोः) विधि (विधान वाले) तथा मन्त्र (अविधान वाले) मन्त्रों का (एकार्थ्यम) विधि रूप से एक ही अर्थ होता है क्योंकि (एक शब्दयात) वह दोनों एक ही वेद वचन हैं।

भा०—विधि और मन्त्र दो प्रकार का वेद है विधि उसे कहते हैं कि जहां वेद के वाक्य कर्म विशेष के विधान कर्त्ता अग्नि होत्रादि कर्मों का वर्णन करते हैं। मन्त्र वह है कि जो किसी कर्म विशिष्ट के विधि विधान को नहीं करते किन्तु अभ्युदय

निःश्रेयस के साधन ईश्वर स्तुति, प्रार्थना, ज्ञान आदि सृष्टि के विभिन्न अनेक पदार्थों का प्रतिपादन करते हैं। अतः वेद सर्व कल्याणार्थ सृष्टि के आदि में हुये वह कल्याण कर्त्तव्य कर्म के अनुष्ठान से मनुष्य मात्र को उपलब्ध हैं न कि सिद्ध पदार्थ के ज्ञान द्वारा और वेदों का प्रयोजन भी मनुष्य को कल्याण प्रदान करना है अतः वेद के मन्त्र और ब्राह्मण दोनों प्रकार के वाक्य के प्रतिपादक हैं।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात् ॥३१॥

प० क्र०—(अपि वा) पूर्व पक्ष के परिहार के लिये प्रयोग है। (मन्त्रः) मंत्र (अभिधान वाची) प्रति पादक (स्यात्) हैं क्योंकि (प्रयोग सामर्थ्यात्) शब्द प्रयोग शक्ति से उक्तार्थ उपलब्ध होता है।

भा०—विधि और मन्त्र एक ही वेद शब्द के वाचक हैं तथापि दोनों के अर्थ भिन्न--भिन्न हैं। शब्द सामर्थ्य से विधि का अर्थ विधान कहाता है और मन्त्र का अर्थ अभिधान है। जो शब्दार्थ सामर्थ्य से मिलता है उसके विरुद्ध कल्पना करनी ठीक नहीं। इसके अतिरिक्त अभ्युदय और निःश्रेयष्ट फल तक की आकांक्षा वाले पुरुष को अनेक पदार्थों का ज्ञान चाहिये उन्हीं के यथावत् ज्ञान से ऐहिक और पारलौकिक उत्थान के उपाय जुटा सकता है। यदि वेद उनका वर्णन न करते तो वह ममुष्य के लिये कल्याण कर न होता। अतः वेदों में वेदवाक्य कर्मों के विधान समान ही सिद्ध पदार्थों के गुण कर्म और स्वभावादि का भी विधान है जो विधि वाले हैं वह विधि और अभिधान वाली

मन्त्र संज्ञक ऋचायें हैं अतः अर्थ भेद से ही यह सब है ।

सं०—अब विधि शब्द से मन्त्रों के अतिरिक्त किसी अन्य ब्राह्मण वाक्य का ग्रहण न हो सके उस विधि वाक्य का भी निरुपण करते हैं ।

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥२२॥

प० क्र०—(तच्चोदकेषु) अग्नि होत्रादि के विधान करने वाले तथा सिद्धार्थ के प्रति पादक वेद वाक्यों की (मन्त्राख्या) मंत्र संज्ञा माननी चाहिये ।

भा०—वेदों के वाक्यों में कर्मों का विधान तथा सिद्धार्थ का अभिधान है । इन दोनों को ही मन्त्र कहते हैं । पहले भी विधि और मन्त्र दोनों मन्त्र के ही प्रकार बतलाते थे । अतः जो ब्राह्मणों को मन्त्र बतलाते हैं उनका पक्ष इससे कट जाता है ।

सं०—अग्नि होत्र के प्रतिपादक तथा सिद्धार्थ अभिधायक वेद वाक्यों की मन्त्र संज्ञा कह कर अब उनके व्याख्यानादि रूप ऐतरेयादि ग्रन्थों की ब्राह्मण संज्ञा पर विचार करते हैं ।

शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥२३॥

प० क्र०—(शेषे) मन्त्रों की व्याख्या रूप ऐतरेयादि ब्राह्मणों के ग्रन्थ भी (ब्राह्मण शब्दः) ब्राह्मण संज्ञा वाले हैं ।

भा०—जो अन्य के उपकारार्थ ही पदार्थ अथवा शेष कहलाता है जैसे स्वामी के लिये सेवक आदि हैं । व्याख्यान भी व्याख्येय का शेष होता है अतः ऐतरेयादि व्याख्यान होने से वेदों के शेष हैं, अर्थात् मन्त्रों के शेष ऐतरेयादि ग्रन्थ ही ब्राह्मण संज्ञक हैं ।

सं०—वेद की मंत्र संज्ञा और उसके ब्राह्मणों की व्याख्या संज्ञा

कह कर अब ब्राह्मण ग्रंथों को ऐसा (वेद नहीं) सिद्ध करके वेदों के विभाग की स्थापना करते हैं ।

अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु विभागः ॥२४॥

प० क्र०—(अनाम्नातेषु) ऋषि प्रोक्त होने से ऐतरेयादि ब्राह्मण को (अमंत्रत्वं) वेदत्व नहीं । (हि) अतः उन्हें छोड़ कर (आम्नातेषु) ईश्वर प्रदत्त मंत्रों का (विभागः) विभाग करते हैं ।

भा०—ऊह, प्रवर तथा नामधेय यह तीनों मंत्र नहीं इसलिये इन्हें छोड़ कर जो मंत्र हैं उनका विभाग किया गया है ।

सं०—वह विभाग इस प्रकार है ।

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥२५॥

प० क्र०—(यत्र) जहां जिन मन्त्रों में (अर्थवशेन) छन्द शास्त्रानुकूल (पाद व्यवस्था) पादों का प्रबन्ध है (तेषां) उन मन्त्रों की (ऋक) ऋग्वेद संज्ञा है ।

भा०—छन्दः शास्त्र में पिंगलाचार्य वैदिक तथा लौकिक भेद से दो प्रकार के छन्द बतलाते हैं । गायत्री आदि वैदिक तथा आर्या आदि लौकिक छन्द संज्ञक निरूपण किये हैं । एक एक छन्द तीन तथा चार पद तक होता है जो छन्दोबद्ध अर्थात् पाद व्यवस्था युक्त है वह ऋग्वेद के मन्त्र हैं अर्थात् मन्त्रों के याग आदि विभाग उपाय छन्द शास्त्र ने छन्दोबद्ध मन्त्रों की ऋग्वेद मन्त्र संज्ञा ही है ।

सं०—पाद व्यवस्था के पश्चात् गान व्यवस्थानुकूल वेद के विभाग को कहते हैं ।

गीतिषु सामाख्या ॥३६॥

प० क्र०—(गीतिषु) जो मन्त्र गान किये जा सकें उन्हें (सामाख्या) साम संज्ञक कहा गया है।

भा०—भगवान् की उपासना के लिये जिन मन्त्रों का ज्ञान हमें दिया गया वह गान करने योग्य होने से सामवेद कहलाये।

सं०—शेष मन्त्र क्या कहलाये।

शेषे यजुःशब्दः ॥३७॥

प० क्र० —(शेषे) जो पाद वद्ध नहीं न गान किये जा सकें वह सब मन्त्र (यजुर्वेद शब्द) यजुर्वेद हैं।

भा०—अवशिष्ट मन्त्र यजुर्वेद कहलाते हैं अर्थात् पादवद्ध ऋग्वेद, गीतवद्ध, साम और अवशिष्ट काम्य कर्मवद्ध मन्त्र यजुर्वेद हुए यही वेदत्रयी कहलाती है।

सं०— चौथा अथर्ववेद का यजुर्वेद में अन्तर्भाव किये जाने से पूर्व पक्ष करते हैं।

निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् ॥३८॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष बोधक है (निगदः) जो छन्दोवद्ध और गीति युक्त मन्त्रों के सिवाय स्पष्ट अर्थ वाले हैं उनकी यजुर्वेद संज्ञा नहीं किन्तु (चतुर्थ) अथर्ववेद संज्ञा (स्यात्) है क्योंकि (धर्म विशेषात्) यजुः के धर्म से उसका भिन्न धर्म है।

भा०—जिन मन्त्रों को निगद कहते हैं। इनकी ही 'यजु' संज्ञा है अथवा यजु संज्ञा ही भिन्न है। इसका निरुपण यह है कि यद्यपि छन्दोवद्ध (पाद) तथा गीति युक्त मन्त्रों से निगद

भिन्न ही हैं तब भी वह यजु नहीं कहे जा सकते क्योंकि यज्ञों में स्वर, पाठ, क्रम भिन्न २ हैं जैसे 'उच्चै' ऋचा क्रियते उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा, उच्चै निर्गदेन' जैसे ऋग्वेद तथा सामवेद उच्चोच्चारण यजुका उपांशु और फिर निगद का उच्च पाठ बोला जाता है अतः यजु से निगद भिन्न है। यदि उसके अन्तर्गत माना जावेगा तो यजु का उपांशुत्व और निगद का उच्चैसत्व धर्म परस्पर विलक्षण होने से अनुमान होता है कि यजु में निगद का अन्तर्भाव नहीं किन्तु अतिरिक्त होने से 'अथर्व' संज्ञा है।

सं०—और भी हेतु है।

व्यपदेशाच्च ॥३९॥

प० क्र०—(च) और (व्यपदेशात्) यह यजु है यह निगद है इस प्रकार व्यवहार भेद से भी निगद यजु नहीं।

भा०—शब्दात्मक व्यवहार से भी यही सिद्ध होता है कि ऋग तथा साम मन्त्रों के सिवाय मन्त्रों में भी यजु है यह बिना भेद कल्पना किये कैसे जाने जा सकते थे।

सं०—अब इसका समाधान करते हैं।

यजूंषि वा तद्रूपत्वात् ॥४०॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष परिहारार्थ है (यजूंषि) निगदयजुः हैं क्योंकि (तद्रूपत्वात्) उस में यजु का लक्षण मिलता है।

भा०—जिन की पाद व्यवस्था नहीं और जो न गान किये जा सकें, छन्द शास्त्र के अनुसार वह यजु संज्ञक मन्त्र हैं। और उसका लक्षण ऋग तथा साम मन्त्रों को छोड़ कर निगद और अनिगद जितने मन्त्र हैं समान हैं और समान होने से वह

भिन्न नहीं। अतः निगद यजु से भिन्न नहीं किन्तु यजु के भीतर होने से वह भी यजुः ही है।

सं०—धर्म भेद होने का समाधान करते हैं।

वचनाद्धर्मविशेषः ॥४१॥

प० क्र०—(धर्मविशेषः) जो भेद अर्थात् उनका उपांशुत्व और उच्चैस्वरूप है वह (वचनात्) पूर्व कथित वाक्य के अनुसार है ।

भा०—एक होते हुए भी बीच के भेद से धर्मभेद सम्भव है अतः पूर्व कथित वचन से जो उपांशुत्व तथा उच्चैस्त्वरूप धर्म भेद से यजुः मन्त्र निगद से अलग नहीं किये जा सकते।

सं०—निगद के उच्चैस्त्व धर्म का प्रयोजन कहते हैं।

अर्थाच्च ॥४२॥

प० क्र — च) निगद के यजुः होने पर भी जो धर्म विशेष कहा गया है वह (अर्थात्) प्रयोजन के कारण है।

भा०—दूसरे के बोध के लिये निगद का ऊंचे स्वर में पाठ होता है यदि उस का उपांशु पाठ किया जावे तो अन्य को बोध नहीं हो सकता।

सं०—इसे यजुः और इसे निगद कहते हैं इस व्यवहार भेद का यह समाधान किया जाता है।

गुणार्थो व्यपदेश ॥४३॥

प० क्र०—(व्यपदेशः) यह यजुः है और यह है निगद जो यह व्यवहार है वह वह (गुणार्थः) गौण है।

भा०—बीच के भेद को लेकर यह व्यवहार होता है इसलिये वह निगद और यजुः के पारस्परिक भेद का समर्थक नहीं।

सर्वेषामिति चेत् ॥४४॥

प० क्र०—(सर्वेषाम्) ऋग् के बीच के मन्त्र भेद को निगद बतलाया है (चेत् इति) ऐसा कथन किया जावे तो समीचीन नहीं।

भा०—निगद मन्त्रों का यजुः में अन्तर्भाव नहीं किन्तु वह अन्तर्भाव ऋग्वेद में है क्योंकि ऋग्वेद मन्त्र और निगद उच्चस्वर से पढ़ें जाते हैं। इनका समान धर्म है।

सं०—अब आशंका की जाती है कि—

न ऋग्व्यपदेशात् ॥४५॥

प० क्र०—(न ऋग) उच्चैस्त्व धर्म के समान होते हुये भी ऋग मन्त्रों में निगद का अन्तर्भाव नहीं, क्योंकि उनमें (व्यपदेशात्) ऋग से भिन्न का उपदेश मिलता है।

भा०—जैसे कहा गया कि ' अयाज्या वै निगदः ऋचैव यजन्ति'। अर्थात् निगद याग के योग्य नहीं किंतु ऋचा से यज्ञ करे। अतः ऋग और निगद भिन्न हैं और इसी लिये उच्च स्वर पाठ की समानता होते हुये भी ऋग्वेद में निगद का अंतर्भाव नहीं हो सकता प्रत्युत लक्षण के समान होने से निगद यजुः के ही अंतर्गत है।

सं०—अब एक वाक्य का लक्षण करते हैं।

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात् ॥४६॥

प० क्र०—(अर्थैकत्वात्) जिन क्रिया और कारक पदों के मेल से एक अर्थ मिलता है (चेत्) यदि (विभागे) उनमें से किसी भी एक पद को अलग करदें तो (साकांक्षं) अन्य अपेक्षा वाले होते हैं। (एकं वाक्यं) ऐसे पद समूह एक वाक्य कहे जाते हैं।

भा०—जब एक पद दूसरे के बिना वाक्यार्थ बोध न करा सके 'आकांक्षा कहते हैं जैसे विष्णु दत्तः पद्भ्यां ग्रामं गच्छति' इस वाक्य में विष्णु दत्त को 'गच्छति' क्रिया के बिना और गच्छति को विष्णुदत्त के बिना उसका पांव से गांव जाना असम्भव है और इसे ही वाक्यार्थ बोध की असम्भवता मानते हैं। अब साकांक्ष है अर्थात् क्रिया, कर्त्ता, कर्म और करणादि कारक पद समूह क्रिया अथवा कर्मादि किसी एक पद से अतिरिक्त हो जाने पर वाक्यार्थ बोधक नहीं रहते प्रत्युत बोध के लिये विभक्त पद की अकांक्षा होने से साकांक्ष (इच्छा वाले रहते हैं) और उसकी उपलब्धि पर निराकांक्ष वाक्यार्थ बोध होता है। वह क्रिया कारक पद समूह "एक वाक्य" कहलाता है।

सं०—अब अनेक वाक्य का लक्षण करते हैं।

समेषु वाक्यभेदः स्यात् ॥४७॥

प० क्र०—(समेषु) जो निराकांक्ष पद समुदाय है उनमें (वाक्य भेदः) प्रति समूह वाक्य भेद (स्यात्) है।

भा०—अनेक वाक्य लक्षण इसलिये करना पड़ा कि यजुर्वेद के 'चित्पतिर्मा पुनातु वाक् पतिर्मा पुनातु' आदि मन्त्र में पद समूह वाक्य सम्पूर्ण एक हैं किन्तु नाना वाक्य हैं इसलिये यह समाधान है कि जो पद समूह दूसरे पद समूह की इच्छा नहीं रखता ऐसे वाक्य भिन्न मानने चाहिये न कि एक। 'चित्पतिर्मा' आदि मन्त्रों में अपना अर्थ ज्ञान कराने में परस्पर निराकांक्षत्व

होने से समानता है। अतः प्रथम समूह एक वाक्य और दूसरे समूह का दूसरा वाक्य समुदाय इसी क्रम से उत्तरोत्तर है और इसी क्रम से यजु मन्त्रों में सर्वत्र एक वाक्य तथा नाना वाक्य कल्पना कर लेना उचित है।

सं०—अध्याहार कर लेने के लिये भी कहते हैं।

अनुषंग वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात् ॥

प० क्र०—(वाक्य समाप्तिः) वाक्य अन्त का प्रयोजक, (अनुषंग) पदान्तर का योग (सर्वेषु) जिन वाक्यों में आपेक्षित हो अध्याहार कर लेना चाहिये क्योंकि (तुल्य योगित्वात्) उसका सबसे सम्बन्ध है।

भा०—पहिले बतलाया जा चुका है "चित्पतिर्मापुनातु" मन्त्र में "अछिद्रेन पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः" इस अन्तवाक्य का शेष है इसका 'चित्पतिर्मा पुनातु में' अनुषंग है अथवा नहीं इस सन्देह को दूर करने के लिये कहते हैं, कि 'देवो वा सविता पुनातु' वाक्य में जिस प्रकार पुनातु क्रिया को करण आपेक्षित है उसी प्रकार पूर्व के उभय वाक्यों में आया हुआ 'पुनातु' क्रिया पद भी 'करण' की इच्छा रखता है अतः यह सिद्ध हुआ कि अन्तिम वाक्य के समान पूर्व के दोनों वाक्यों में भी उक्त वाक्य शेष का अनुषङ्ग कर लेना ठीक है अध्याहार न करे।

सं०—अनुषङ्ग के अपवाद का निरूपण करते हैं।

व्यवायान्नानुषज्येत ॥४९॥

प० क्र०—(व्यवायात्) मध्य में व्यवधान अन्तर से (न अनुषज्येत) अनुषङ्ग नहीं होता।

भा०—इस मन्त्र में कि "सन्ते वायुर्वातेन गच्छतां समङ्गानि

यजनैः सं "यज्ञपति राशिषा" इसमें 'गच्छतां' क्रिया का अनुषङ्ग 'से यज्ञपति राशि में है या नहीं' इस की संगति के लिये कहा जाता है कि अनुषङ्ग न बतलाये गये वाक्यों में ही होता है बतलाये हुओं में नहीं। 'सन्ते' तथा 'संयज्ञ' के बीच में समङ्गानि वाक्य का अन्तर है इसलिये उक्त क्रिया का अन्तिम वाक्य में अनुषङ्ग नहीं हो सकता अब यह कि 'समङ्गानि में गच्छतां का अनुषङ्ग क्यों नहीं तो 'गच्छंता' इस प्रकार के वचन का परिणाम करने से श्रुत पद के योग का नाम अनुषङ्ग माने जाने परिणत का सम्बन्ध नहीं अतः समङ्गानि वाक्य में सम्बन्ध न होने से अन्तिम वाक्य में भी अनषङ्ग नहीं हो सकता।

इति मीमांसा दर्शने द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः समाप्तः।

अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः प्रारभ्यते

शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्डत्वात् ॥१॥

सं०—आख्यात पद का वाच्य, एवं गौण तथा प्रधान दो भांति से धर्म का स्पष्टीकरण पिछले पाद में किया। अब याग होम, दान इत्यादि रूप से वह कथित कर्म रूप धर्म के अनेक भेद निरूपण करने के निमित्त आख्यात भेद से भेद का स्पष्टीकरण करते हैं।

प० क्र०—(शब्दान्तरे) आख्यात भेद होने से (कर्म भेदः) कर्म का भेद है इसलिये कि (कृतानुबन्धत्वात्) आख्यात भेद से कर्म भेद का सम्बन्ध नियत है।

भा०—यजेत् से जुहोति ददाति आदि तथा जुहोति से यजेत् ददाति इत्यादि एवं ददाति से यजेति जुहोति आदि शब्दान्तर

हैं। तथा शब्दान्तर का कर्म भेद के साथ नियत सम्बन्ध है। यथा 'कटं करोति' पुरोडाशं पचति ग्रामं गच्छति इत्यादि में 'करोति का कर्त्ता, पचति का पाक, तथा गच्छेति का जाने के साथ योग है अब यदि इन आख्यात पदों का एक ही कर्म अर्थ करे तो शब्दान्तर प्रयोग सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है अतः उन्हें एक ही कर्म वाचक कहना ठीक नहीं किन्तु यथा क्रम याग, होम, दान धन इत्यादि लक्षण भिन्न २ कर्म वाचक हैं।

सं:—अभ्यास से किए कर्म को स्पष्ट करते हैं।

एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् ॥२॥

प० क्र०—(एकस्य) एक आख्यात पद का (पुनः श्रुतः) फिर सुनना (एवं) भी आख्यात भेद समान कर्म का भेदक है (हि) निश्चय पूर्वक (अवि शेषात) कर्म भेद न मानने से (अनर्थकम्) वह व्यर्थ (स्यात्) होता है।

भा०—'समिधो यजति' तनून पातं यजति, इडोयजति, बर्हिंयजति, स्वाहाकारं यजति इन वाक्यों में पांच वार 'यजति' शब्द सुने जाने से यह शब्द एक ही कर्म का प्रतिपादक है अथवा प्रति श्राव (सुनने से) विभिन्न कर्मों का विधान करने वाला है। यद्यपि इन में पिछले अधिकरणों के समान आख्यात भेद नहीं केवल एक ही 'यजति' शब्द का फिर श्रुति लक्षण के श्रवण प्रयोगवश किया गया है तब भी यहां एक ही कर्म नहीं बतलाया क्योंकि ऐसा मानने से 'यजति' शब्द का वार २ सुनना वृथा और जो श्रवण अथवा अभ्यास की सिद्धि के लिए इस 'संमितयण में जहां पांच वार 'यजति' कहा है वह आख्यात क्रिया

भेद न होने से भी लक्षण की यथा अनुपपत्ति से 'समिधो यजति आदि वाक्य भिन्न भिन्न कर्म के विधायक हैं न कि एक ही कर्म के।

सं०-विद्वद्वाक्य को 'आग्नेय' आदि याग का अनुवादक निरूपण करते हैं।

प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपवचनात् ॥३॥

प० क्र०—'तु' शब्द कर्मान्तर विधान शंका का परिहारक है (पौर्णमास्यां) इसमें पौर्णमासी शब्द सहित 'य एवं विद्वान्' शब्द युक्त विद्वद्वाक्य प्राप्त प्रकरण में 'आग्नेय' आदि याग का अनुवादक है न कि विधायक, क्योंकि (रूपवचनात्) उससे याग के रूप का भान नहीं होता।

भा०—(१) जो प्रकाशमय परमात्मा देव के उद्देश्य से अमावस्या तथा पौर्णमासी में प्रदत्त "अष्टकपाल" है वह अच्युत होता है। (२) प्रकाश तथा सौम्य स्वभाव परमात्मदेव के उद्देश्य से पौर्णमासी में घृत से 'उपांशु' करे। (३) दधि तथा घृत से, अमावस्या में सर्वैश्वर्य युक्त परमात्मा के अर्थ याग करे इत्यादि में आग्नेय, ऐन्द्र, यह तीन तो दर्श नाम वाली और आग्नेय, उपांशु, याज, अग्निषोमीय यह तीन पूर्णमास संज्ञक अर्थात् दर्श और पूर्णमास संज्ञा वाली 'आग्नेय' आदि षट्-याग को विधान करके य एवं विद्वान् पौर्णमासी यजते एवं विद्वान् अमावस्यां "यजेते" वह ऐहिक और पारलौकिक सुख को प्राप्त होता है। यहां विद्वद्वाक्य पड़ा है यह पौर्णमासी संज्ञा वाले 'आग्नेये' षट्-याग का अनुवादक हैं अथवा पौर्णमास और अमावस्या संज्ञक कर्मान्तर का प्रतिपादक है।

सं०-यदि विद्वद्वाक्य अनुवादक है तो प्रयाज का भी अनुवादक

क्यों नहीं क्योंकि 'आग्नेय' आदि के सदृश वह भी तो प्रकृत याग है।

विशेष दर्शनाच्च सर्वेषां समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात् ॥४॥

प० क्र०-(समेषु) समान भाव से प्रकृत होते हुये भी—(सर्वेषां) 'आग्नेय' तथा 'प्रयाज' सब के अनुपाद को (अप्रवृत्तिःस्यात्) विद्वद्वाक्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकती (हि) निश्चय पूर्वक (विशेष दर्शनात्) आग्नेय आदि में काल सम्बन्ध रूप अधिक पाया जाता है (च) और प्रयाजादि में नहीं मिलता।

भा०-विद्वद्वाक्य में आया पौर्णमासी तथा अमावस्या पद, पौर्णमासी तथा अमावस्या काल में होने वाले कर्म विशेष वाची हैं न कि काल मात्र अथवा कर्म मात्र का।

सं०-इसमें पूर्व पक्ष उठाते हैं।

गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ॥५॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व पक्ष को लक्षित करता है (गुणः) उस विद्वद्वाक्य में बतलाये कर्म में द्रव्य देवता रूप गुण (श्रुति) संयोगात्) श्रुति संयोग से प्राप्ति है।

भा०-यादाग्नेयोऽष्ट कपालः 'आदि वाक्य दर्श पौर्णदास नामक आग्नेय, आदि यज्ञ का विधान नहीं करते किन्तु वाक्य में बतलाये कर्म में द्रव्य देवता रूप गुण का किधान करते हैं।
सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्राच्चोदिते

हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्येत ॥६॥

प० क्र०—'वा' पूर्व पक्ष के परिहार के लिये आया है (चोदना) कर्म विधि वाक्य जैसे "यदाग्नेयोऽष्ट कपालः" गुण विधि नहीं क्योंकि (गुणानां) द्रव्य देवता गुणों का (युगपत् शासनात्) एक काल में ही उनका शासन होने से उनको (चोदिते) वाक्यान्तर विधान कृत कर्म में गुण का विधान कर्त्ता माना जावे तो (तस्य उपदिश्यते) प्रथक् प्रथक् उपदेश होने से (हि) निश्चय पूर्वक है क्योंकि (तदर्थत्पात्) वह बतलाये हुए कर्म के निमित्त है।

भा०—यदि विद्वद्वाक्य को अपूर्व कर्म का विधान करने वाला मान कर उसमें आपेक्षित द्रव्य देवता रूप गुणों के निमित्त "यदाग्नेयोऽष्टा कपालः" आदि को गुण का विधान करने वाला मान लें तो जिस प्रकार 'आधारमाघारयति' वाक्य में बतलाये 'आधार' नाम वाले कर्म को आवश्यक 'ऋतुत्व' और 'सन्तत' रूप गुणों का ऋजु माघारयति सन्तत माघारयति के के द्वारा प्रथक् प्रथक् बतलाया गया है उसी वकार 'यदाग्नेय' आदि से भी उक्त गुणों का प्रथक् विधान होता परन्तु उन वाक्यों द्रव्य देवता रूप गुणों का एक विधान मिलने से यह अनुमान होता है कि उस वाक्य में द्रव्य देवता रूप गुण विशेष अपूर्व कर्म के विधान करने वाले हैं न कि गुण विधायक हैं।

सं०—वाक्यों के गुण विधि होने में और भी हेतु हैं।

व्यपदेशश्चतद्वत् ॥७॥

प० क्र०—'च' और 'तद्वत' उसी प्रकार द्रव्य देवता रूप गुणों का एक साथ शासन गुण विधि का समर्थक नहीं उसी प्रकार

(व्यपदेशः) समुच्चय व्यपदेश भी असमर्थक है।

भा०—अमावस्या में यह आहुतियां जैसे उभाणि हवा एतानि हतीषि अमावास्यायां सन्निश्रयन्ते आग्नेयं प्रथमम् ऐन्द्रे उत्तरे प्रधान' हवि हैं इनमें पूर्व अग्नि परमात्मा और शेष दोनों इन्द्र परमात्मा के निमित्त दी जाती है यहां अमावस्या में जो तीन समुदाय रूप हवि का उपदेश है वह 'यदाग्नेय' आदि वाक्कों के गुण विधि में नहीं आता क्योंकि उस से 'अमावास्या' याग में अग्नि और इन्द्र नाम वाले अनेक देवताओं का विधान मिलता है परन्तु विद्वद्वाक्य में कहे गये 'अमावस्या याग एक हैं और एक याग में अनेक देवताओं का एक साथ होना असम्भव है। अतः विद्वद्वाक्य अनुवादक ही माना गया है।

सं०—इस अर्थ में और हेतु देते हैं।

लिंगदर्शनाच्च ॥८॥

प० क्र०—(च) तथा (लिंग दर्शनाच्च) इस प्रकार संकेत पाये जाने से कि "चतुर्दश पौर्णमास्याम्" 'यदाग्नेयः' आदि वाक्य गुण विधि नहीं कर्म विधि ही है।

भा०—चौदह पौर्णमास कर्म में, और तेरह आहुति अमावस्या में दी जाती है। इस वाक्य में तेरह और चौदह आहुतियों का कथन है। 'यदाग्नेय' आदि वाक्यों में कर्म विधि उसका लिंग है। क्योंकि विद्वद् वाक्य को विधि कर्त्ता मानंगे तो उस पूर्वोक्त संख्या की अपूर्णता रहती है अर्थात् पांज 'प्रयाज' तीन 'अनुयाज' 'दो चक्षुः' जिसमें आज्य भाग और 'स्विष्ट कृत' नामक हविर्दान, यह १० अथवा ११ हवि अङ्ग है इन तीन प्रधान हवियों के मिलाने से वह संख्या पूर्ब हो जाती है उस तीन हवि का विधान 'यदाग्नेय' वाक्यों से ही मिलता है न कि विद्वद्

वाक्य से अतः वह वाक्य गुण विधायक नहीं किन्तु विधान कर्त्ता का डर है इसी संख्या से उसमें बतलाये पौर्णमास तथा अमावस्या नामक तीन २ प्रधान आहुति रूप कर्म का विद्वद्वाक्य अनुवादक हैं ।

सं०—अब पूर्व पक्ष करते हैं कि:-

पौर्णमासीवदुपांशुयाजःस्यात् ॥९॥

प० क्र०—(पौर्णमासीवत्) जैसे पौर्णमासी पद जिस प्रकार विद्वद्वाक्य का अनुवादक है उसी प्रकार (उपांशुयाजः) उपांसुयाजः पद भी उपांशुयाज मन्तरा यजति वाक्य का होने से अनुवादक है।

भा० —"उपांशु याज मन्तरा यजति" इस वाक्य से द्रव्य देवता रूप याग नहीं होता और विधि प्रत्यान्त न होने से 'यजति' पद से याग का विधान भी नहीं मिलता अतएव वह वाक्य अपूर्व कर्म विधान कर्त्ता नहीं किन्तु विद्वद्वाक्य के समान 'विष्ठावादि' वाक्य में बतलाये यागत्रय का अनुवादक है।

सं०—अब पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

चोदना वाऽप्रकृतत्वात् ॥१०॥

प० क्र०—'वा' शब्द पूर्व पक्ष के खण्डन के लिये आया है। (चोदना) यह कर्म विधि है अनुवादक नहीं क्योंकि 'उपांशु याज मन्तरा यजति' में ऐसा ही मिलता है (अप्रकृतत्वात्) प्रकृत याग का अभाव होने से।

भा०—'उपांशु याज मन्तरा' में उपांशु याज नामक अपूर्व कर्म का विधान कर्त्ता है और विष्णु रूपांशु यष्टव्य, आदि वाक्य उसे स्तुति करने वाले अर्थवाद हैं।

सं०—इसे उपांशु याज' क्यों कहते हैं।

गुणोपबन्धात् ॥११॥

प० क्र०—(गुणोपबन्धात्) उपांशुत्व गुण सम्बन्ध ने उस कर्म की संज्ञा 'उपांशु' है।

भा०—इस समस्त कर्म में 'उपांश मन्त्रोच्चारण है। अतः इसको 'उपाशु याज कहते हैं।

सं०—कर्म के प्रधान होने में हेतु देते हैं।

प्राये वचनाच्च ॥१२॥

प० क्र०—(च) तथा वह (प्राये) प्रधान कर्मों के भीतर (वचनात्) पाठ पाये जाने से प्रधान है।

भा०—पौर्णमासी कर्म का 'आग्नेययाग' मस्तक है उपांशुयाज हृदय तथा अग्नीषोमीय चरण है ऐसा पाठ मिलता है यदि वह प्रधान न होता तो प्रधान यागों में उसका पाठ न पाया जाता परन्तु उस पाठ से यह अनुवादक होता है कि वह भी प्रधान याग ही है क्योंकि प्रधान याग में प्रधान का ही पाठ हो सकता है किसी और का नहीं। अतएव 'उपांशु याज मन्तरा यजति' वाक्य, उपांशु याज, नामक प्रधान भूत याग का विधान कर्त्ता है न कि अनुवादक।

सं०—'आधार वाक्य और 'अग्निहोत्र' वाक्य को अपूर्व कर्म विधान कर्त्ता होने का निरुपण करते हैं।

आधाराग्निहोत्रमरूपत्वात् ॥१३॥

प० क्र०—(आघाराग्नि होत्रम्) आधार और अग्नि होत्र वाक्य अनुवादक हैं इसलिये कि (अरूपत्वात्) उन से याग स्वरूप

की प्राप्ति नहीं होती।

भा०—'आघार संज्ञक कर्म करे' ऊंची तथा सीधी धारा से आदि वाक्य में अग्निहोत्र वाक्य दधि आदि बतलाये हुये कर्म का आघार वाक्य ऊंचे आदि विधान किये वाक्य का अनुवादक है अथवा अग्निहोत्र वाक्य तथा आघार वाक्य का अपूर्व कर्म एवं दधि आदि और ऊंचे वाक्य उसके अपेक्षित गुणों का विधान कर्त्ता है अतः यह अग्निहोत्र वाक्य तथा आघार वाक्य से याग के स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती अत दोनों वाक्य अपूर्व के विधान कर्त्ता नहीं किन्तु अनुवादक ही हैं।

संज्ञोपबन्धनात् ॥१४॥

प० क०–(संज्ञोप बन्धनात्) वाक्यों से संज्ञा का सम्बन्ध मिलता है अतः वह विधायक नहीं कहे जा सकते।

"अग्निहोत्रं जुहोति" "आघार माघार येति" में जो द्वितियान्त शब्द से अग्निहोत्र और आघार की ओर संकेत किया है वह कर्म प्रतीत होते हैं। परन्तु नाम निर्देशक पूर्वक ही सिद्ध कहा जाता है न कि असिद्ध का। इस नियम से प्रतीत होता है कि 'अग्निहोत्र तथा आघार नामक कर्म सिद्ध है और अग्निहोत्र वाक्य एवं आघार वाक्य उसके अनुवादक हैं न कि विधायक।

सं०–उस अर्थ में हेतु देते हैं।

अप्रकृतत्वाच्च ॥१५॥

प० क०—(च) तथा (अप्रकृतत्वात्) प्रकरण में आये वाक्य से भी द्रव्य देवता की उपलब्धि नहीं होती।

भा०—अग्नि होत्र वाक्य और आधार वाक्य द्रव्य देवता के द्योतक नहीं उसी प्रकार वाक्यान्तर से भी कुछ प्रतीत नहीं होता और अपूर्व कर्म का स्वरूप द्रव्य तथा देवता माना गया है वह यदि प्रतीत न हो तो ऐसे वाक्यों को अपूर्व कर्मों का विधायक नहीं कह सकते अतः वह विधायक के स्थान अनुवादक ही माने जावेंगे।

सं०—अब पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥१६॥

प० क्र०—'वा' शब्द पूर्व पक्ष के परिहार के लिये आया है। (चोदना) अग्निहोत्र तथा आघार वाक्यों के कर्म विधान कर्त्ता होने से अनुवादक नहीं क्योंकि (शब्दार्थस्य) उनका अग्निहोत्र तथा आघार रूप जो (तत्सन्निधेः) उनके समीप श्रुति दधि आदि वाक्य हैं (वह गुणार्थेन) गुण विधि है।

सं०—अब वाक्यों को अपूर्व कर्म का विधान कर्त्ता कहते हैं।

द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः प्रकरणे ह्यनर्थको द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ॥

प० क्र०—(पशु सोमयोः) दो वाक्य सोमने यजेत, तथा अग्नीषोमीयं (चोदना) अपूर्व कर्म के विधान कर्त्ता हैं उनमें (द्रव्य-संयोगात) द्रव्य का योग पाया जाता है (हि) यदि (प्रकरणे) प्रकरण में पढ़ा हृदयादि "और ऐन्द्र वायवादि वाक्यों का विधान कर्त्ता माने तब (द्रव्यसंयोगः) सुने हुये द्रव्य का योग (अनर्थकः) व्यर्थ हो जाता है। अतः (तस्य) उसका श्रवण

(गुणार्थेन) गुणरूप से भी (नहि) नहीं हो सकता है ।

सं०—अब चांति आदि को संस्कार कर्म का विधान कर्त्ता होने का निरूपण करते हैं ।

अचोदकाश्चसंस्काराः ॥१८॥

प० क्र०—(च) तथा (अचोद काः) अपूर्व कर्म के विधान कर्त्ता नहीं किन्तु (संस्काराः) पशु तथा सोम रूप द्रव्य का संस्कार बतलाते हैं ।

सं०—'सोमेन यजेत' से एक ही सोम याग की विधि पाई जाती है अतः एक यागः और दश पात्रों का ग्रहण कैसा ।

तद्भेदात्कर्मणाऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद्भेदो द्रव्यगुणीभावात् ॥१९॥

प० क्र०—(तद्भेदात्) पात्र भेद से (कर्मणः) सोमयाग की (अभ्यास) आवृत्ति समझनी क्योंकि (द्रव्य पृथक् त्वात्) पात्र भेद से, तत्स्थ सोम द्रव्य का भी भेद मिलता है (हि) यदि कर्मावृति न हो तो (भेदः) वह भेद (अनर्थक) वृथा (स्यात्) हो जाता है और (द्रव्य गुणी भावात्) सोम रूप द्रव्य का अङ्ग से ही ग्रहण की आवृति है ।

मा०—जिस कर्म को बारम्बार किया जाता है उसे अनुष्ठान कहते हैं अभ्यास और आवृति पर्यायवाची हैं अतः आवृति के कारण दश पात्रों का ग्रहण प्रयोजन के अनुकूल हो जाता है।

संस्कारस्तु न भिद्यते परार्थत्वाद्द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥२०॥

प० क्र०—'तु' शब्द आशंका दूरी करण के लिये है (संस्कारः) पशु बन्ध रूप संस्कार की (न भिद्यते) यूप भेद होने से भी आवृत्ति नहीं क्योंकि (परार्थत्वात् यूप पशु बांधने के निमित्त होने से (गुणभूतत्वात्) गौण है।

सं०—अब संख्या कृत कर्म भेद को कहते हैं।

पृथक्त्वनिवेशात्संख्यया कर्मभेदःस्यात् ॥२१॥

प० क्र०—(संख्यया) भेदेन (कर्म भेदः) कर्म का भेद (स्यात्) है क्योंकि उसका (पृथकत्व निवेशात्) संख्येय भेद से नियत सम्बन्ध है।

सं०—संज्ञा कृत कर्म भेद को बतलाते हैं।

संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् ॥२२॥

प० क्र०—(च) और [संज्ञा] नाम भी कर्म में भेद करने वाला है क्योंकि उस का [उत्पत्ति संयोगात्] कर्म के विधान कर्त्ता वाक्य के साथ योग है।

सं०—गुण भेद से कर्म भेद कहते हैं।

गुणश्चाऽपूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात् ॥

प क्र०—[च] तथा [अपूर्व संयोगे] प्रकृत देवता के साथ नः याग होने से (गुणः) गुण एवं कर्म का भेद करने वाला है [वा क्ययोः] पूर्व और उत्तर उभय वाक्य [समत्वात्] एक से हो जाते हैं।

अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥२४॥

प० क्र०—(तु) शब्द शंका परिहारार्थ है (कर्मशब्दे) अपूर्व कर्म का विधायक वाक्य (अगुणे) गुण रहित कर्म का विधायक है

(तत्र) उस वाक्य से बतलाये कर्म में (गुणः) वाक्यान्तर से कर्म का (प्रतीयेत) विधान होता है।

सं०—अब दधि आदि गुण का फल कहते हैं।

फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात् फलस्य कर्मयोगी-त्वात् ॥२५॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व पक्षार्थ है (कर्म) दधि वाक्य अपूर्व कर्म का (स्यात्) विधान कर्त्ता है क्योंकि (फलश्रुतेः) उसका फल सुना गया है एवं (फलस्य) फल से (कर्म योगि त्वात्) कर्म से नियत सम्बन्ध है।

भा०—'दध्ना इन्द्रिय कामस्य जुहुयात' अर्थात् चक्षुः आदि इन्द्रिय की कामना वाला दही से होम करे इस में इन्द्रिय फल रूप उपदेश फल पाये पाने से यह कर्म के विना केवल एक दधि रूप द्रव्य से नहीं मिल सकता क्योंकि फल कर्मजन्य होता है अतः इन्द्रिय फल के लिये दधि आदि रूप गुण मात्र का विधायक नहीं किन्तु 'अग्निहोत्र' वाक्य के तुल्य गुण साध्य अपूर्व कर्म का विधान करता है।

सं—अब इसका समाधान किया जाता है।

अतुल्यत्वात्तु वाक्ययोर्गुणे तस्य प्रतीयेत ।२६।

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व पक्ष के परिहारार्थ है (वाक्य योः) 'अग्निहोत्र तथा 'दध्नेन्द्रिय इन दोनों वाक्य में (अतुल्य त्वात्) एक नहीं अतः (तस्य) अग्निहोत्र कर्म में (गुणः) फल विशेष के लिये गुण का (प्रतीयेत) विधान है।

भा०—'अग्नि होत्रं जुहुयात स्वर्ग कामः' लोक और परलोक की

भारती
क्रमांक
विभाग

इच्छा वाला पुरुष नित्य दोनों समय अग्नि होत्र करे यहां इस वाक्य में फल का जन्य जनक सम्बन्ध है।

सं०—अब कर्मान्तर को कहते हैं।

समेषु कर्म युक्तं स्यात् ॥२७॥

प० क्र०—(समेषु) सदृश वाक्यों में (कर्म युक्तं) अपूर्व कर्म के साथ फल सम्बन्ध (स्यात) है।

भा०—जिस प्रकार प्रकृत याग के विधान कर्त्ता वाक्य से याग एवं फल का जन्य जनक भाव सम्बन्ध है उसी प्रकार उस वाक्य में गुण विशिष्ठ याग के साथ पशु रूप फल का जन्य जनक भाव नहीं।

सं०—सौभर और निधन का समान फल निरूपण करते हैं।

सौभरे पुरुषश्रुतेर्निधनं कामसंयोगः ॥२८॥

प० क्र०—(सौभरे) सौभर सम्बन्धी निधन में (पुरुषश्रुतेः) पुरुष प्रयत्न का उपदेश है अतः (निधनं) वह निधन (काम-संयोग) फल वाला है।

भा०—जिस पुरुष को वर्षा, अन्न, तथा सुख विशेष की इच्छा हो वह सौभर नामक साम विशेष से परमात्मा की स्तुति करे क्योंकि इससे समस्त फल प्राप्त होते हैं यह विधि बतलाकर साम के पांच अथवा सात भाग होते हैं और अन्तिम को निधन कहते हैं यहां पर वृष्टि कामना वाला 'हीष' अन्न कामना वाला 'ऊर्ग' सुख विशेष कामना वाला 'ऊ' इसका निधन करे इन वाक्यों में 'कुर्यात' पद से पुरुष प्रयत्न का उपदेश मिलता है।

सं०—अब इसका समाधान किया जाता है।

सर्वष्य वोक्तकामत्वात्तस्मिन्कामश्रुतिः स्यान्निधनार्थापुनः श्रुतिः ॥२६॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्षपरिहारार्थ है (सर्वस्य) सब साम को (उक्त कामत्वात्) वृष्टि आदि फल का हेतुक है अतः (तस्मिन्) सौभर में (काम श्रुतिः) फल श्रवण (स्यात) है (पुनः) तथा (श्रुतिः) निधन वाक्य में फल श्रवण (विधनार्था) व्यवस्था हेतुक है।

भा०-सम्पूर्ण साम से फल सिद्धि होती है अथवा उसके किसी अंश से भी होती है क्योंकि निधन सौभर साम का एक भाग है।

सं०—ज्योतिष्टोम यज्ञ का अङ्ग ' ग्रह ' ग्रहण उसके गुण निरुपण करते हैं।

इति मीमांसा दर्शने द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

अथ द्वितीयाध्याय तृतीयः पादः प्रारभ्यते ॥

गुणस्तु क्रतुसंयोगात्कर्मान्तरं प्रयोजयेत्संयोगस्याशेषभूतत्वात् ॥१॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व पक्ष का द्योतक है [गुणः] रथन्तरादि सामरूप गुण के श्रवण से [कर्मान्तरं] दूसरे कर्म का [प्रयोजयेत] प्रेरक है क्योंकि [क्रतुसंयोगात्] उसका अन्य क्रम से योग है और [संयोगस्य] वह सम्बन्ध [अशेषभूतत्वात्] मुख्य कर्म से प्रथक् है।

सं०—अब पूर्व पक्ष का समाधान किया जाता है।

**एकस्य तु लिंगभेदात् प्रयोजनार्थ मुच्येतै-
कत्वं गुणवाक्यत्वात् ॥२॥**

प० क्र०-'तु' पूर्व पक्ष निराकरणार्थ है (एकस्य) एक ही ज्योतिष्टोम याग का (लिंगभेदात्) विशेषण भेद से (प्रयोजनार्थम्) ग्रह ग्रहण रूप अर्थ के निमित्त (उच्येत) वाक्य कहे जाते हैं अतः (गुणवाक्यात्) उन्हें ग्रह ग्रहण रूप गुण विशिष्ट का विधानकर्त्ता होने से (एकत्वं) कर्म की एकतावश भेद नहीं ।

सं०—ब्राह्मणादि कृत्य के कर्मान्तर होने का निरूपण करते हैं।

अवेष्टौ यज्ञसंयोगात्क्रतुप्रधानमुच्यते ॥३॥

प० क्र०- (अवेष्टौ) अवेष्टि नामक याग सन्निधि में पठित (क्रतु प्रधानम्) अपूर्व कर्म विधायक (उच्यते) है क्योंकि (यज्ञ संयोगात्) क्षत्रिय संबन्ध होने से ।

सं०-अग्न्याधान् तथा उपनयन को कर्मान्तर निरूपण करते हैं ।

आधाने सर्वशेषत्वात् ॥४॥

प० क्र०-[आधाने] अग्न्याधान, और यज्ञोपवीत में विधि है क्योंकि वह [असर्व शेषत्वात्] सब मनुष्यों को पूर्व प्राप्त नहीं होता ।

भा०—वैदिक कर्मानुष्ठान अग्न्याधान और विद्या प्राप्ति के बिना नहीं हो सकता और विद्या प्राप्ति उपनयन के बिना नहीं ।

सं०—'दाक्षायण' आदि को गुण कथन के लिये कहते हैं ।

अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् ॥५॥

प० क्र०—[अयनेषु] दाक्षायणादि वाक्य में [चोदनान्तरं] कर्मान्तर विधि होने से उनमें [संज्ञोप बन्धात्] कर्म संज्ञा का सम्बन्ध है।

सं०—इसमें हेतु देते है।

अगुणाच्च कर्मचोदना ॥६॥

प० क्र०—[च] तथा [अगुणात्] अन्य गुण योग न होने से वह [कर्मचोदना] कर्म मात्र का विधान है।

सं०—अन्य हेतु और भी है।

समाप्तं च फले वाक्यम्

प० क्र०—[च] और [वाक्यं] वह वाक्य (फले) मोक्षादि फले (समाप्तं) कर्म मात्र का उद्भुत-उत्पादक है।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

विकरो वा प्रकरणात् ॥८॥

प० क्र०—'वा' शब्द पूर्व पक्ष के परिहारार्थ आया है (विकार) दर्श पूर्ण मास में गुण विशेष का विधान करने वाला होने से वह वाक्य [प्रकरणात्] उसके प्रकरण में पढ़े जाने से भी।

सं०—और भी हेतु है।

लिंगदर्शनाच्च ॥९॥

प० क्र०—(च) तथा (लिंगदर्शनात्) चिन्ह प्रतीत होने से वह वाक्य गुण विधायक है न कि उसे कर्मान्तर विधायक कह सकते हैं।

सं०—अब 'संज्ञोपबन्धात्' उस पक्ष में कठिन का समाधान

करते हैं ।

गुणात्संज्ञोपबन्धः ॥१०॥

प० क्र०—(गुणात्) बारम्बार रूप गुण कथन से (संज्ञोपबन्ध) याग की दाक्षायण संज्ञा कही गई है ।

भा०—दाक्षायण शब्द बारम्बार रूप गुण का वाचक है उसी गुण योग में प्रकृत याग को दाक्षायण याग कहा है ।

सं०—अब सातवें सूत्र के पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं ।

समाप्तिरविशिष्टा ॥११॥

प० क्र०—(समाप्तिः) उस वाक्य का आकांक्षा रहित होना । (अवशिष्टा) कर्म फल सम्बन्ध कथन के समान गुण फल सम्बन्ध कथन में समानता है ।

सं०—' वायव्यं श्वेतम् ' ऐसे वाक्यों में अपूर्व कर्म का विधान पाये जाने से पूर्व पक्ष करते हैं ।

संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात् ॥१२॥

प० क्र०—यहां 'च' शब्द पूर्व पक्ष की सूचना निमित्त है (अप्र-ककरणे) प्रकरण में न होने पर भी पढ़ा हुआ 'वायव्य श्वेतम्' आदि वाक्य (संस्कारः) स्पर्श रूप संस्कार गुण के विधान कर्त्ता हैं न कि अपूर्व कर्म विधान कर्त्ता हैं, उनमें (अकर्म शब्दात्) उसका वाचक कोई शब्द नहीं ।

सं०—द्वितीय पक्ष को कहते हैं ।

यावदुक्तं वा कर्मणः श्रुतिमूलत्वात् ॥१३॥

प० क्र०—' वा ' शब्द पूर्व पक्ष के निमित्त आया है (यावदुक्तं(

उस वाक्य में स्पर्श तथा निर्वाण मात्र कर्म के विधान कर्ता हैं इसलिये कि (कर्मणः) कर्म का (श्रुति मूलत्वात्) जैसा सुना वैसा ही विधान मानना ठीक है।

सं०-इस पूर्व पक्ष का समाधान किया जाता है।

यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्म-सम्बन्धात् ॥१४॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व पक्ष परिहारार्थ है। (यजतिः) यह वाक्य प्रधान कर्म के करने वाले हैं। उनसे (द्रव्य फल भोक्तृ संयोगात्) द्रव्य, फल तथा देवता तीनों का का याग मिलता है और (एतेषां) तीनों का (कर्म सम्बन्धात्) प्रधान कर्म के साथ अनियत सम्बन्ध है।

सं०-इसमें हेतु देते हैं।

लिंगदर्शनाच्च ॥१५॥

प० क्र०-(च) और (लिंगदर्शनात) के पाये जाने से उस कार्य की सिद्धि है।

सं०-'वत्सया लभते' में संस्कार कर्म का विधान है इसका निरूपण करते हैं।

विशये प्रायदर्शनात् ॥१६॥

प० क्र०-(विशये) याग विधि है अथवा संस्कार विधि है इस संशय के उपस्थित होने पर (प्राय दर्शनात्) प्रकरण बलादेश से निश्चय करे।

सं०-इस अर्थ में अब हेतु देते हैं।

अर्थवादोपपत्तेश्च ॥१७॥

प० क्र०—(च) तथा (अर्थवादोपपत्तेः) अर्थवाद से भी इस अर्थ की सिद्धि है।

संयुक्त स्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात् ।१८।

प० क्र०—(अर्थ शब्देन) उपधान रूप कर्म वाची उपदधाति क्रिया के साथ (संयुक्त) नियोजित जो चरु वह (तदर्थ) उपधान के निमित्त है (तु) न कि याग के लिये क्योंकि (श्रुति संयोगात्) इससे सुने हुए अर्थ का लाभ है।

सं०—पर्य्यग्निकृत वाक्य भी संस्कार का विधान कर्त्ता है।

पात्नीवते तु पूर्वत्वादवच्छेदः ॥१९॥

प० क्र०—(पात्नीवते) वाक्य विशेष में (अविच्छेदः) सामान्य याग में अभिलाषित द्रव्य संस्कार का विधान है न कि अपूर्व याग का, क्योंकि (पूर्वत्वात्) याग पद पूर्व ही आ चुका है।

सं०—'अदाभ्य' पात्र विशेष का निरूपण करते हैं।

अद्रव्यत्वात्केवले कर्मशेषः स्यात् ॥२०॥

प० क्र०—(अद्रव्यत्वात्) द्रव्य और बिना देवता के (केवले) केवल 'अदाभ्य' और 'अंशु' ग्रहण सुने जाने से याग विधान की कल्पता नहीं क्योंकि (कर्मशेषः) ज्योतिष्टोम कर्म का अङ्ग स्यात् है न कि प्रधान कर्म का।

सं०—अब अग्नि चयन संस्कार कर्म का निरूपण किया जाता है।

अग्निस्तु लिंगदर्शनात्क्रतुशब्दः प्रतीयते ।२१।

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व पक्ष परिहार कर्त्ता है। (अग्निः) अग्नि वाक्य (क्रतुशब्दः) याग का नाम (प्रतीयेत) प्रतीत होता है क्योंकि (लिङ्गदर्शनात्) उसके बतलाने वाले स्तोत्र तथा शस्त्र रूप चिन्ह मिलते हैं।

सं० – इसका समाधान यह है।

द्रव्यं वा स्याच्चोदनायास्तदर्थत्वात् ॥२२॥

प० क्र०—'वा' पूर्व पक्ष परिहारार्थ है (द्रव्यं) अग्नि के (चोदनायाः प्रेरणा से (तदर्थत्वात्) उसके स्थापन अर्थ से है।

तत्संयोगात्क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेन धर्मविधानानि ॥२३॥

प० क्र०—(क्रतु संयोगात्) यज्ञ के साथ अग्नि का अङ्गाङ्गि भाव रूप सम्बन्ध है [तदाख्यं] लिङ्ग वाक्य में अग्नि पद [क्रतुः] ज्योतिष्टोम यज्ञ का वाचक [स्यात्ः] है अतः [तेन] वह वाक्य [धर्म विधानानि] याग में स्तोत्र एवं शस्त्र रूप गुण का विधान करता है न कि संज्ञा का बोधक है।

प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ॥२४॥

प० क्र०—[प्रयोजनान्यत्वं] नित्य अग्निहोत्र कर्म से 'मासाग्निहोत्र कर्म भिन्न है क्योंकि (प्रकरणान्तरे) वह अन्य प्रकरण से विदित है।

फलं चाकर्मसन्निधौ ॥२५॥

प० क्र०—(च) तथा (अकर्म सन्निधौ) अनारभ्याधीत आदि वाक्य में (फलं) सुने हुए फल प्रकरणान्तर से कर्म भेद करने

वाले हैं ।

सन्निधौ त्वविभागात्फलार्थेन पुनः श्रुतिः ।२६।

प० क्र०—(सन्निधौ) अवेष्टि यज्ञ की समीपता में पढ़ा हुआ 'एतया' वाक्य (फलार्थेन) फल सम्बन्ध के लिये (पुनः श्रुतिः) अवेष्टि याग का फिर फिर करने का विधायक है (तु) न कि कर्मान्तर का (अविभागात्) अविभाग होने से ।

आग्नेयसूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत ।।२७।।

प० क्र०—'तु' पद पूर्व पक्ष का द्योतक है । (आग्नेयः) आग्ने आदि वाक्य में बारम्बार आग्नेय याग सुने जाने से (अभ्यासेन) भिन्न अनुष्ठान के निमित्त है क्योंकि (उक्त हेतु त्वात्) बारम्बार श्रुति कर्म भेद का साधक है ।

अविभागात्तु कर्मणां द्विरुक्तेन विधीयते ।।२८।।

प० क्र०—' तु ' पूर्व पक्ष का निराकरण करता है । (द्विरुक्ते) पुनः पुनः कथन होने से भी (न विधीयते) कर्मान्तर का उक्त वाक्य में विधान ही क्योंकि (कर्मणा) पूर्व वाक्य विहित कर्म में (अविभागात्) इस वाक्य विधान कर्म का सामञ्जस्य अर्थात् एकता है ।

अन्यार्था वा पुनः श्रुतिः ।।२९।।

प० क्र०—' वा ' पूर्व पक्ष का परिहार करता है और एक देशी के समाधान को 'समाधाना भास' मात्र बतलाता है । (पुनः श्रुतिः) आग्नेय याग का बारम्बार श्रवण (अन्यार्था) ऐन्द्र याग स्तावक होने से है ।

इति श्री मीमांसा दर्शने द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः समाप्तः ।

❀ ओ३म् ❀

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः प्रारभ्यते ।

सं०—"जब तक जिये अग्निहोत्र करे" इसमें पूर्व पक्ष करते हैं ।

यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात् ।१।

प० क्र०—(यावज्जीविकः) जीवन पर्यन्त होने वाला (अभ्यासः) फिर फिर अनुष्ठान । (कर्म धर्मः) अग्निहोत्र कर्म का कर्म है कारण कि (प्रकरणात्) कर्म का प्रकरण होने से ।

सं०—इस पक्ष का समाधान किया जाता है ।

कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् ॥२॥

प० क्र०—' वा ' पूर्व पक्ष परिहार के निमित्त प्रयोग है (कर्तुः) यावज्जीव पुरुष का धर्म है क्योंकि (श्रुति संयोगात्) मुख्यार्थ लाभ होने से ।

सं०—इसमें हेतु देते हैं ।

लिंगदर्शनाच्च कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत तत्रानर्थकमन्यत्स्यात् ॥३॥

प० क्र० —(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) चिन्ह मिलने से कि जब तक जिये तब तक कर्म करे यह पुरुष धर्म है न कि कर्म का (हि) इसलिये कि (कर्म धर्म) कर्म का धर्म होने से (प्रक्रमेण) आरब्ध कर्म का (नियम्येत) मरण पर्यन्त समाप्ति का नियम हो तो (तत्र) ऐसा नहीं (अन्यत्) फल क्षय श्रवण से (अनर्थक) वृथा (स्यात्) है ।

सं०—इसमें यह हेतु भी है ।

व्यपवर्गं च दर्शयति कालश्चेत्कर्मभेदः स्यात् ।

प० क्र०—(व्यपवर्गं) दर्श आदि कर्म की समाप्ति (च) तथा कर्मान्तर विधि (दर्शयति) वाक्यान्तर में मिलती है (चेत) यदि (कालः) दर्श कर्म की समाप्ति के पश्चात् काल का शेष है तो (कर्मभेदः) तब ही कर्म विशेष का विधान (स्यात्) है।

सं०—इसमें हेतु देते हैं कि:—

अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥५॥

प० क्र०—(तु) तथा सामान्य अग्निहोत्रादि काम्यं कर्म (एवं) इसी प्रकार जरा, मृत्यु अवधि वाला (नस्यात) नहीं होता (अनित्यत्वात्) क्योंकि वह अनित्य है।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

विरोधश्चापि पूर्ववत् ॥६॥

प० क्र०—[च] तथा [पूर्ववत्] पूर्व कहे दोषों के समान [विरोधः अपि] अनुष्ठान न करने से रूप लक्षण दोष भी आता है।

सं०—इसका उपसंहार करते हैं।

कर्तुस्तु धर्मनियमात् कालशास्त्रं निमित्तं स्यात् ॥७॥

प० क्र०—[काल शास्त्रे] समय शास्त्र के समान वाक्य। (निमित्ते) जीवन रूप निमित्त। [कर्तुःधर्म नियमात] जब तक जिये कर्त्ता का धर्म नियम है। तु न कि कर्म के धर्म का।

सं०—सब शाखाओं में वैदिक कर्मों को समन्वय करते हैं।

नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्तिसमाप्ति

व (च)नप्रायश्चित्ताऽन्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्म-भेदः स्यात् ॥८॥

प० क्र०—(शाखान्तरेषु) शाखाओं में । (कर्मभेदः) कर्मों का परस्पर भेद । (स्यात) है कारण । (नाम रूप धर्म विशेष पुनरुक्ति निन्दा शक्ति समाप्ति वचन प्रायश्चित्तान्यार्थ दर्शनात्) नाम भेद, स्वरूप भेद, धर्म भेद और पुनरुक्ति आदि पाई जाती है।

सं०—इसका समाधान किया जाता है ।

एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात् ॥९॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष परिहारार्थ प्रयोग है । (एवं) प्रति ब्राह्मण तथा शाखा में अग्निहोत्र एक ही है भेद नहीं । कारण कि (संयोग रूपचोदना ऽऽख्याऽविशेषात्) फल, स्वरूप, प्रेरणा और नाम का सर्वत्र समन्वय है ।

सं०—नाम भेद हेतु का निराकरण करते हैं ।

न नाम्ना स्यादचोदनाविधानत्वात् ॥१०॥

प० क्र०—(नाम्ना नाम भेद से । (नस्यात्) अग्निहोत्र कर्मों का भेद नहीं क्योंकि (अचोदनाविधानत्वात्) उनकी विधि वाक्यों में प्ररणा नहीं है ।

सं०—इसमें युक्ति देते हैं ।

सर्वेषां चैककर्म्यं स्यात् ॥११॥

प० क्र०—(च) और (सर्वेषां) अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास ज्योतिष्टोम आदि सब यज्ञ । (एककर्म्यं) एक ही कर्म (स्यात्) हैं ।

सं०—इसमें युक्ति यह भी है ।

कृतकंचाभिधानम् ॥१२॥

प० क्र०—(च) तथा (अभिधानम्) काठक, कालापक, नाम (भेद कृतकं) न रहने वाले हैं ।

सं०—रूप भेद का निराकरण किया जाता है ।

एकत्वेऽपि परम् ॥१३॥

प० क्र०—(एकत्वे अपि) प्रति ब्राह्मण तथा प्रति शाखा कर्म के एक होने पर भी (परं) एकादश कपाल और द्वादश कपाल और द्वादश कपाल का प्रवचन विकल्प के आधार पर हो सकता है ।

सं०—धर्म भेद के हेतु देते हैं ।

विद्यायां धर्मशास्त्रं ॥१४॥

प० क्र०—(विद्यायां) कारीगरी आदि अध्ययन वाक्य (धर्म-शास्त्रे) शास्त्र में बतलाये भूमि भोजन अङ्ग हैं न कि कर्म में ।

सं०—पुनरुक्ति हेतुक समाधान करते हैं ।

आग्नेय पुनर्वचनम् ॥१५॥

प० क्र०—(आग्नेयवत्) आग्नेय यज्ञ के समान (पुनवर्चनम्) पुनरुक्ति अनुवाद है ।

सं०—इसी को पुनः पुष्ट करते हैं ।

अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् ॥१६॥

प० क्र०—(वा) सूचनार्थ है (वा) अथवा (अद्विर्वचनं) ब्राह्मण तथा शाखा में पुनर्वचन नहीं (श्रति संयोगाविशेषात्) वेद सम्बन्ध सर्वत्र समान हैं

सं०-पुनः युक्ति देते हैं।

अर्थासन्निधेश्च ॥१७॥

प० क्र०—(च) पुनः (अर्थासन्निवेः) एक शाखायें उस अग्नि-होत्र रूप अर्थ का शाखान्तर में कहे हुए सम्बन्ध से वह पुनरुक्ति नहीं मानी जाती।

सं०-इसमें हेतु और भी है।

न चैकं प्रति शिष्यते ॥१८॥

प० क्र०-(च) पुनः (एकं प्रति) ब्राह्मण तथा शाखा में विषयक पुरुष के प्रति अग्निहोत्र करणोपदेश है (न शिष्यते) न होने से।

सं०-'समाप्ति वचन' रूप का हेतु का समाधान करते हैं।

समाप्तिवच्च संप्रेक्षा ॥१९॥

प० क्र०-(च) तथा (समाप्तिवत्) कर्म समाप्ति का बतलाने वाला वचन होने से उससे (सम्प्रेक्षा) प्रति ब्राह्मण तथा प्रति शाखा कर्म का भेद ही है।

सं०—निन्दा, अशक्ति तथा समाप्ति वचन तीनों को कर्म भेद में अहेतुक कथन करते हैं।

एकत्वेऽपिपराणि निन्दा शक्तिसमाप्तिवचनानि ।

प० क्र०-(एकत्वेऽपि) प्रति ब्राह्मण तथा शाखा में एक ही अग्नि-होत्र का प्रवचन होने से (निन्दाऽशक्तिसमाप्ति वचनानि) निन्दा अशक्ति तथा समाप्ति वचन (पराणि) तीनों होते हैं।

सं०-पुनः आशंका करते हैं।

प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥२१॥

प० क्र०—(निमित्तेन) होम की उदित अथवा अनुदित वेला पर (प्रायश्चित्तं) प्रायश्चित्त विधान किया हुआ कर्म पक्ष का साधक नहीं ।

सं०--इन शब्दों का परिहार किया जाता है ।

प्रक्रमाद्वा नियोगेन ॥२२॥

प० क्र०—(वा) शब्द उस शंका के परिहारार्थ है । (नियोगेन) उदित होम अथवा अनुदित होम की प्रतिज्ञा का नियम करके (प्रक्रमात्) आरम्भ करदे अथवा विपरीत होने पर प्रायश्चित्त कहा गया है ।

सं०--समाप्ति वचन से बीच के कर्म की क्यों पाई जाती है ।

समाप्तिः पूर्ववत्त्वाद्यथाज्ञाते प्रतीयते ।२३।

प० क्र०–[समाप्तिः] समाप्ति [यथा ज्ञाने] प्रतिज्ञानुकूल [प्रतीयते] समझनी चाहिये । [पूर्ववत्त्वात्] वह निश्चयपूर्वक आरंभ की गई है ।

सं०—अन्यार्थ दर्शन के हेतुक प्रथम हेतु को कहते हैं ।

लिंगमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्न हि तन्त कर्म-चोदना तस्माद्द्वादशाहस्याहारव्यपदेश स्यात् ।

प० क्र०—(लिंगं) चिन्ह (अवशिष्टं] प्रति ब्राह्मण और प्राप्ति शाखा कर्म भेद का अर्थ वाला नहीं (सर्वशेषत्वात्) उससे तो ज्योतिष्टोम सर्व प्रथम माना गया है (तत्रं) तब (कर्म चोदना) कर्म प्रेरणा-विधि (नहि) नहीं मानी जा सकती (तस्मात्) अतएव (द्वादशाहस्य) वृहत्सामा के (आहार व्यपदेशः) दिदीक्षाणाः

तथा अदिदीक्षाणाः शंकानुष्ठान कथन (स्यात्) है वह कर्म भेद का नहीं।

सं०—अन्यार्थ का दूसरा हेतु देते हैं।

द्रव्ये चाचोदितत्वाद्विधीनामव्यवस्था स्यान्नि-र्देशाद्व्यवतिष्ठेत तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ।२५।

प० क्र०—(च) और (द्रव्ये) अग्नि रूप द्रव्य के चयन करने में (अचोदितत्वात्) एकादशिनी याग का उपदेश (प्रेरणा) न होने से (विधिनां) पक्ष तुल्य निन्दा और वेद सदृश यज्ञ भूमि और यूपों के बीच रथाश्व परिमित अन्तराल के विधि वाक्य की (अव्यवस्था) व्यतिक्रम (स्यात्) अवश्य है तथापि (निर्देशात्] 'वाचःस्तोम' याग में एकादश यूप की विधि होने से (व्यवतिष्ठेत्) उक्त विधियों की व्यवस्था हो सकने से (तस्मात्) अतः वह अग्नि चयन विभाग (नित्यानुवादः) पूर्वोक्त विधि वाक्यों का विधान (स्यात्) है न कि विधान।

सं०—अन्यार्थ दर्शन में तृतीय हेतु दिया जाता है।

विहितप्रतिषेधात् पक्षेऽतिरेकः स्यात् ॥२६॥

प० क्र०—(विहितप्रतिषेधात्) अतिरात्र याग में 'षोड़शी' पात्र के ग्रहण तथा निषेध की विधि के (पक्षे) विधान तथा निषेध पक्ष (अतिरेकः) दो और तीन का अनुपात (स्यात्) हो सकता है।

सं०—अन्यार्थ दर्शन में चौथा हेतु देते हैं।

सारस्वते विप्रतिषेधाद्यदेति स्यात् ॥२७॥

प० क्र०—(सारस्वते) सारस्वत सत्र में। (विप्रतिषेधात्) पुरो-

डाशी और साम्नायी का अधिकार कहने से जो शाखान्तर में "एषवाव प्रथमो यज्ञः) आदि वाक्य से विरोध आने पर उसका परिहार (यदा, इति) 'यदा' इस पद के अध्याहार से (स्यात्) होता है।

सं—अन्यार्थ दर्शन में पांचवा हेतु देते हैं।

उपहव्येऽप्रतिप्रसवः ॥२८॥

प० क्र०—(उपहव्ये) उपहव्य याग में वृहत तथा रथन्तर साम विधान वृथा है क्योंकि (अप्रति प्रसवः) वह स्वभाव से विदित है।

सं०—इन पूर्व पक्षों का समाधान किया जाता है।

गुणार्था वा पुनः श्रुतः ॥२९॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष निराकरणार्थ प्रयोग किया गया है (पुनः ति) प्रकृति याग से प्राप्त होने पर वृहत्साम और रथन्तर साम का पुनः विधान (गुणार्था) दक्षिणा रूप गुण विशेष के नियम के निमित्त है।

सं०—प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा कर्म भेद से साधक लिंगों के निराकरण किये जाने पर अब कर्म अभेद का साधक लिंगों को कहते हैं।

प्रत्ययंचापि दर्शयति ॥३०॥

प० क्र०—(च) तथा (प्रत्ययं) एक शाखा में याग का और दूसरी शाखा में उसके गुणों का विधान मिलने से। (अपि) भी। प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा अग्निहोत्र कर्म का अभेद

बतलाता है ।

सं०—पुनः आशंका करते हैं ।

अपि वा क्रमसंयोगाद्विधिपृथक्त्वमेकस्यां व्यवतिष्ठेत ॥३१॥

प० क्र०—[अपि वा] शब्द शंका द्योतनार्थ है । (एकस्या) प्रत्येक शाखा में । (विधिपृथक्त्वं) अङ्गों के अनुष्ठान भेद से । (व्यवतिष्ठेत्) ही होने चाहिये कारण कि [क्रम संयोगात्] अनुष्ठान के पाठक्रम से सम्बन्ध है और वह प्रति शाखा अलग-अलग है ।

सं०—इस आशंका का परिहार करते हैं ।

विरोधिना त्वसंयोगादैकाकर्म्ये तत्संयोगाद्विधीनां सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात् ॥३२॥

प० क्र०—'तु' शंका के परिहारार्थ प्रयोग है [विरोधिना] अनुष्ठान क्रम से विरोध करने वाले पाठ के साथ [असंयोगात्] अङ्गानुष्ठान का सम्बन्ध नहीं क्योंकि [एक कर्म्ये] पूर्व कथित युक्तिवाला देश से प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा में कर्म की एकता सिद्ध होने पर [विधिनां] सम्पूर्ण अंश विधानों का [तत्संयोगात्] सब शाखाओं में प्रत्येक बतलाये क्रम के अनुसार अंगों का अनुष्ठान [स्यात्] होता है ।

इति श्री मीमांसादर्शने द्वितीयोध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥

❀ ओ३म् ❀

अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः प्रारभ्यते ।

सं०—दूसरे भाग में यज्ञादि कर्मों के भेद उनके बीच में कौन शेष और शेषी कर्म हैं निरूपण करके अब प्रथम शेष के लक्षण बतलाते हैं ।

अथातः शेष लक्षणम् ॥१॥

प० क्र०—[अथ] भेदादि कथन के पश्चात् (शेष लक्षणं) शेष का लक्षण निरूपण करते हैं [अतः] इसलिये कि वह लाभप्रद है ।

सं०—शेष के क्या लक्षण हैं ।

शेषः परार्थत्वात् ॥२॥

प० क्र०—[परार्थत्वात्] दूसरे के लिये होने वाला [शेषः] शेष कहलाता है ।

सं०—'शेष' क्या है निरूपण करते हैं ।

द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः ॥३॥

प० क्र०—[द्रव्य गुण संस्कारेषु] द्रव्य गुण तथा संस्कार में शेष शब्द की प्रवृति होती है यह बादरि आचार्य मानते हैं ।

सं०—इसमें जो कमी है उसे कहते हैं ।

कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात् ॥४॥

प० क्र०—[कर्माणि, अपि] यज्ञ दान होम शेष के ही लक्षण हैं [फलार्थत्वात्] क्योंकि उनके फल हैं ऐसा [जैमिनः] जैमिनि आचार्य मानते हैं ।

सं०--शेष का और लक्ष्य कथन करते हैं।

फलं च पुरुषार्थत्वात् ॥५॥

प० क्र०--[चा] पुनः फलं द्रव्यगुण और संस्कार एवं कर्म के समान फल भी शेष है क्योंकि [पुरुषार्थत्वात्] वह पुरुषार्थ निमित्त है।
सं०—शेष का क्या लक्ष्य है निरूपण करते हैं।

पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ॥६॥

प० क्र० —[च] तथा [पुरुषः] द्रव्य की भांति पुरुष भी। शेष है कारण कि। (कर्मार्थत्वात्) वह कर्म दिमित्त है।
सं०--अवहननादि धर्मों को आदि का शेष कहते हैं।

तेषामर्थेन सम्बन्धः ॥७॥

प० क्र०—(तेषां) अवहननादि धर्मों का। (अर्थेन) वितुषी आवादि इष्ट फल के अनुसार। (सम्बन्धः) व्रीहि आदि के साथ शेष शेषी भाव सम्बन्ध है।
सं०—उक्त पक्ष का पूर्व पक्ष करते हैं।

विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात् संयोगतोऽविशेषा-त्प्रकरणाविशेषाच्च ॥८॥

प० क —(तु) पूर्व पक्ष का द्योतक है। (विहितः) शास्त्र में बतलाये अवहनन। कूटना) आदि। (सर्वधर्मः) सब के धर्म। (स्यात्) हैं क्योंकि। [संयोगतः अविशेषात्] उनका द्रव्य से प्रधान कर्म के साथ योग है। [च] तथा [प्रकरण विशेषात्] प्रकरण भी है।
स०--पूर्व पक्ष स्थापित करते हैं।

अर्थलोपादकर्म स्यात् ॥९॥

प० क्र०--(अर्थलोपात्) फल दृष्टिगत न होने से। [अकर्मस्यात्]

सब कर्म सब द्रव्यों में नहीं किये जा सकते अत वह प्रति द्रव्य के लिये हैं।

फलं तु सह चेष्टया शब्दार्थोऽभावाद्विप्रयोगे-स्यात् ॥१०॥

प० क्र०—'तु' आशंका को दूर करने के लिये प्रयोग में लाया गया है (चेष्टया) क्रिया (अवहनन) के (सह) युक्त (फलं) तुष विमोकादि प्रयोजन (शब्दार्थः) शब्द का भाव अर्थ (स्यात्) है (विप्रयोगे फल न होने पर (अभावात्) अवहननादि 'अव-हन्ति' आदिक अर्थ नहीं माने जा सकते।

सं०—'स्फ्य' आदि यज्ञों के साधनों की व्यवस्था कहते हैं।

द्रव्यं चोत्पत्ति संयोगात्तदर्थमेवचोद्यते ॥११॥

प० क्र०—(च) और (द्रव्यं) 'स्फ्य' इत्यादि द्रव्य का (उत्पत्ति संयोगात्) उत्पत्ति वाक्य से जिस जिस क्रिया के योग्य से (तदर्थम् एव) वह उसी क्रिया निमित्त (चोद्यते) विधान किये जाते हैं।

सं०—अरणि आदि गुणों या नियम करते हैं।

अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात् ॥

प० क्र०—(अर्थैकत्वे) एक वाक्यार्थ में (द्रव्य गुणयोः) द्रव्य और गुण के (नियमः) परस्पर योग नियम (स्यात्) हैं इस-लिये कि (एक कर्म्याति) दोनों का किया सिद्ध कार्य समान है।

सं०—'सम्मार्जन' आदि को 'ग्रह' आदि द्रव्य मात्र का धर्म निरूपण करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं।

एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥१३॥

प० क्र०—(एकत्व युक्त) ग्रह आदि सम्मार्जन होने का (एकस्य) एक बार ही (श्रुति संयोगात्) एक वचन श्रुति से 'सम्मार्जन' से सम्बन्ध मिलता है।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम् ॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के परिहारार्थ आया है (सर्वेषां) सब ग्रह आदि द्रव्यों का सम्मार्जन (लक्षणत्वात्) एक वचन के लक्षण का उपन्यास जैसे 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' इत्यादि में ग्रहत्व जाति के अभिप्राय से। (हि) निश्चय और (लक्षण) उस जाति (अविशिष्ट) सब ग्रह आदि में तुल्य हैं।

सं०—'पशुमालभेत' यह उदाहरण क्यों है।

चोदिते तु परार्थत्वाद्यश्रुति प्रतीयेत ॥१५॥

प० क्र०—(तु) विषय दृष्टान्त का द्योतक है (चोदिते) याग में विधान के अनुसार दिये पशु में (यथाश्रुति) जिस संख्या का श्रवण है उसका (प्रतीयेत) ग्रहण होना ठीक है, कारण कि (परार्थत्वात्) वह पशु आलम्भ हेतु से गौण है।

सं०— सम्मार्जन 'ग्रहों' का ही धर्म है चमसों का नहीं इसे कहते हैं।

संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ॥१६॥

प० क्र०—(वा) शब्द पूर्व पक्ष को बतलाता है (गुणानां) गुण भूत सम्मार्जन आदि का (अव्यवस्था, स्यात्) ग्रह धर्म ही है

न कि चमसों का क्योंकि (संस्कारात्) वह संस्कार कर्म है ।

सं०–पूर्व पक्ष का समाधान यह है ।

व्यवस्था वाऽर्थस्यश्रुतिसंयोगात् तस्य शब्द-प्रमाणत्वात् ॥१७॥

प० क्र०— (वा) पूर्व पक्ष के निराश के लिये है (व्यवस्था) ग्रह मार्जन ही धर्म है न कि चमस का क्योंकि (अर्थस्य) ग्रहों का (श्रुतिसंयोगात्) ग्रहं इस द्वितीयान्त पद श्रुति से सम्मार्जन के साथ धर्म धर्म्य भाव योग है तथा (तस्य) उसका (शब्द-(प्रमाणत्वात्) शब्द प्रमाण से वर्जनीय नहीं ।

सं०—सप्तदशा रत्निता' को 'वाजपेय' यज्ञ में पशु याग सम्बन्धी यूप को निरूपण करते हैं ।

आनर्थक्यात्तदंगेषु ॥१८॥

प० क्र०—(तदङ्गेषु) 'सप्तदशा रत्नि' यह वाक्य वाजपेय यज्ञ के अंग भूत पशु याग सम्बन्धी पयू में होने से (आनर्थक्कात्) वाजपेय याग में यूप के न होने से कारण धर्मी का लाभ न होने से निरर्थक होती है ।

सं०—अब 'अभिक्रमण' आदि ' प्रयाज ' मात्र का धर्म कहते हैं अतः यह पूर्व पक्ष है कि :-

कर्तृगुणे तु कर्मासमवायाद्वाक्यभेदः स्यात्त ॥

प० क्र०—[तु] पद पूर्व पक्ष द्योतक है [वाक्य भेदः] इस वाक्य में कि ' अभिक्रामं जुहोति' वाक्य भेद [स्यात्] होना ठीक है क्योंकि [कर्तृगुणे] कर्त्ता के गुण अभिक्रमण का [कर्मा-

समवायात्] 'जुहोति' क्रिया से सम्बन्ध नहीं।

सं०—इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

साकांक्षंत्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण ।२०।

प० क्र०—[तु] शब्द पूर्व पक्ष के निराकरणार्थ आया है (एक-वाक्यं] अभिक्राम जुहोति यह एक पद वाक्य है [हि] निश्चय पूर्वक [साकांक्षं] विभाग करने से दोनों पद साकांक्ष बन जाते हैं और [पूर्वेण] केवल [अभिक्राम] पद से [असमाप्त] वाक्य पूरा नहीं होता।

सं०—'उपवीत' को 'प्राकरणिक' सर्व कर्म का अंग बतलाते हैं।

सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ॥२१॥

प० क्र०—'तु' शब्द ' सामधेनी ' की अंगता के खण्डनार्थ आया है। [सन्दिग्धे] उपवीत सामधेनी का अङ्ग है अथवा सब यर्मों का [वाक्यभेदः] इस सन्देह को हटाने के लिये उपवीत वाक्य सामधेनी प्रकरण भेद से [स्यात्) जाना जाता है कारण कि। (व्यवायात्) बीच में ' निवित ' नामक मन्त्रों का अन्तर है।

सं०—अब निवित नामक मन्त्र सामधेनी का अङ्ग होने के भीतर प्रकरण के विच्छेदक नहीं इसका समाधान करते हैं।

गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात् ॥

प० क्र०—(च) तथा। (गुणानां) एवं निविद् मंत्र। (परार्थत्वात्) यज्ञ अग्नि तथा ईश्वर स्तुति पदक हैं। (समत्वात्) क्योंकि वे समभाव हैं। (असम्बन्धः स्यात्) उनका अङ्गागी भाव नहीं है।

सं०—वार्त्रघ्नी तथा वृधन्वती नामक चार मन्त्रों को आज्य भाग

का अङ्ग होना कहते हैं ।

मिथश्चानर्थसम्बन्धात् ॥२३॥

प० क्र०—(च) और । (मिथः) "वार्त्रघ्नी" और 'वृधन्वती' का दर्शपूर्णमास नामक यज्ञ से सम्बन्ध नहीं, क्योंकि (अनर्थ (सम्बन्धात्) वह व्यर्थ है ।

सं०—' हस्त अवनेजन' अर्थात् हाथ धोने आदि को प्रकरण में होने वाले समस्त कर्म का अङ्ग कहते हैं ।

आनन्तर्यमचोदना ॥२४॥

प० क्र०-(आनन्तर्यम्) बिना उपदेश पाठ ।(अचोदना) अङ्गांगी भाव सम्बन्ध का समर्थक नहीं ।

सं०—उक्त सूत्र से निश्चित अर्थ में युक्त देते हैं ।

वाक्यानां च समाप्तत्वात् ॥२५॥

प० क्र०—(च) और (वाक्यानां) उद्धरित वाक्यों का सम्बन्ध नहीं क्योंकि (समाप्ततवात्) अपने-अपने पद समूह से अर्थ को बतलाने से ही आकांक्षा हीन है ।

सं०— 'चतुर्धाकरण' अर्थात् चार याग करने को ' आग्नेय ' पुरोडाश मात्र का धर्म है ।

शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत मिथस्तेषामसम्बन्धात् ॥२६॥

प० क्र०—(तु) शब्द पूर्व पक्ष का बोधक है । (गुण संयुक्तः) आग्नेय सम्बन्धी । (शेषः) चार भाग करण । (सर्वसाधारणः)

सर्व पुरोडाशं धर्म में। (शेषः) अङ्ग। (प्रतीयते) है क्योंकि (तेषां) अग्नि और चार भाग का। (मिथः) पारस्परिक। (असम्बन्धात्) सम्बन्धी नहीं (प्रत्युत) उसका पुरोडाश और चार भाग करण का सम्बन्ध है।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धाल्लक्षणार्था गुणश्रुतिः ॥२७॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष निवृत्यर्थ प्रयोग किया गया है। (व्यवस्था) चतुर्भाग करण आग्नेय पुरोडाश धर्म ही है क्योंकि। (लिङ्गस्य) अग्निदेव का। (अर्थेन) पुरोडाश से। (सम्बन्धात्) सम्बन्ध होने से। (अर्थसंयोगात्) चतुर्भाग करण का आग्नेय पुरोडाश से योग पाया जाता है और (गुण श्रुतिः) पुरोडाश के साथ अग्निदेव का वह सम्बन्ध। (लक्षणार्था) पुरोडाशान्तर से से भिन्न करणार्थ है।

इति श्री मीमांसा दर्शने तृतीयोध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥

अथ तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः प्रारभ्यते।

अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषुशेषभावः स्यात्तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ॥१॥

प० क्र०—(अर्थाभिधान सामर्थ्यात्) जिस अर्थ के प्रकट करने का बल मन्त्र में है उसके प्रति (मन्त्रेषु) मन्त्रों में (शेष भावः) शेषता (स्यात्) होती है। [तस्मात्] परन्तु [अर्थेन] अर्थ

के साथ । [उत्पत्तिः सम्बन्धः] शक्ति वृत्ति रूप मन्त्रस्थ पद के साथ पदों का नित्य सम्बन्ध है ।

सं०—अब अविहित कर्म में मन्त्रों के विनियोग का निषेध निरूपण करते हैं ।

संस्कारकत्वादचोदितेन स्यात् ॥२॥

प० क्र०—(अचोदिते) अविहित कर्म में (न स्यात्) मन्त्र विनियोग नहीं होना चाहिये क्योंकि [संस्कारकत्वात्] वह विहित कर्म के ही संस्कार करने वाले हैं ।

सं०— 'गार्हपत्य अग्नि' के उपस्थान में इन्द्र रूप प्रकाशक मन्त्रों का निरूपण करते हैं ।

वचनात्त्वयाथार्थमैन्द्री स्यात् ॥३॥

प० क्र०—' तु ' लिंग सम्बन्धी विनियोग की व्यावृत्ति के निमित्त प्रयोग है [ऐन्द्री] इन्द्ररूप ईश्वर के बतलाने वाले मन्त्र का [अयथार्थ] लिंग से विनियोग नहीं हो सकता किन्तु (वचनात्] वाक्य विशेष से (स्यात्) होता है ।

सं०—इन्द्र पद से तो ईश्वर का अभिधान पाया जाता है न कि गार्हपत्य अग्नि का अतः उस मन्त्र का गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में विनियोग नहीं हो सकता इसका उत्तर देते है ।

गुणाद्वाऽप्यभिधानं स्यात्सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात् ॥४॥

प० क्र०—(वा अपि) शंका को दूर करने के लिये प्रयोग है । (गुणात्) गुण सम्बन्ध से (अभिधान) इन्द्र शब्द से गार्ह-

पस्थ अग्नि का अभिधान (स्यात्) हो सकता है क्योंकि (सम्बन्धस्य) पद पदार्थ के सम्बन्ध का (अशास्त्र) हेतुत्वात् वह वाक्य रुकावट उत्पन्न करनेवाला नहीं।

सं०–आह्वान् विनियोग कथन में पूर्व पक्ष करते हैं।

तथाह्वानमपि चेत् ॥५॥

प० क्र०–(तथा) 'निवेशनः संगमनो वसूनाम्' मन्त्र गार्हपत्यर्थ है तथैव (आह्वानं) हविष्कृत ! ऐहि इति त्रिरवघ्नान्नाकृयति' मन्त्र (अपि) भी अवहननादि के लिये है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं।

सं०–इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

न कालविधिश्चोदितत्वात् ॥६॥

प० क्र० – (काल विधिः) 'अवघ्नन' पद अवहनन क्रिया का बतलाने वाला काल का विधान करने वाला है न कि अवहनन क्रिया का क्योंकि (चोदित्वात्) वह व्रीहीन वहन्ति' वाक्य से पूर्व ही विहित है अतः (न) उस वचन बल से 'ऐहि' मन्त्र का 'अविहित' अवहनन क्रिया में विनियोग मानना समीचीन नहीं।

सं०–' ऐहि' मन्त्र आह्वान बोधक नहीं किन्तु गुण वृत्ति से अवहनन का द्योतक है अतः वह उसी में विनियोग होना समीचीन है न कि आह्वान क्रिया में।

गुणाभावात् ॥७॥

प० क्र०–(गुणा भावात्) गुण सम्बन्ध न पाये जाने से ' ऐहि ' मन्त्र अवहनन का प्रकाशक नहीं हो सकता।

सं०— 'हविष्कृत' पद का अर्थ 'यजमान पत्नी' है न कि अवहनन इसकी यह पहचान है।

लिङ्गाच्च ॥८॥

प० क्र०—(च) और (लिङ्गात) चिन्ह पाये जाने से अवहनन 'हविष्कृत' पद का अर्थ भी नहीं है।

सं०—'अवघ्नन' पद को अवहनन रूप कर्म का विधानकर्त्ता मान लेने में दोष दिखलाते हैं।

विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ॥९॥

प० क्र०—(च) तथा। (उपदेशे) अवघ्नन पद से उस कर्म की विधि माने तब। (विधिकोपः) लक्षण अर्थ में विधान किया हुआ 'शतृ' प्रत्यय अनुपपन्न (स्यात्) होता है।

सं०—' अग्नि विहरण' आदि के द्योतक मन्त्रों का अग्नि विहरण आदि में विनियोग निरूपण करते हैं।

तथोत्थान विसर्जने ॥१०॥

प० क्र०—(तथा) जिस भांति अवघ्नन पद अवहनन काल का ज्ञापक है उसी प्रकार (उत्थान विसर्जन) "उत्तिष्ठन्नन्वाह" में उत्तिष्ठन् तथा विसृजति ' पद भी उत्थान काल तथा विसर्जन काल के बोधक हैं।

सं०—अब 'सूक्त वाक' का प्रस्तर प्रहरण में विनियोग किये जाने का पूर्व पक्ष करते हैं।

सूक्तवाके च कालविधिः परार्थत्वात् ॥११॥

प० क्र०—(च) और (सूक्त वाके) सूक्तस्थ वाक्य में भी (काल

विधिः) काल विधान ही मानना चाहिये कारण कि (परार्थ-त्वात्) परार्थ होने से सूक्त वाक्य का प्रस्तर के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता ।

सं०—अब पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं ।

उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात् ।१२।

प० क्र०—(वा) शब्द पूर्व पक्ष के हटाने को प्रयोग किया गया है । (उपदेशः) उपदेश होने से (हि) निश्चय (याज्याशब्दः) वह याग सम्बन्धी देवता का द्योतक होने से (अकस्मात्) निमित्त रहित (न) प्रहरण का अङ्ग नहीं ।

सं०—' परार्थ ' होने को सूक्तवाक का जो सम्बन्ध नहीं बतलाया उसका यह समाधान है ।

स देवतार्थस्तत्संयोगात् ॥१३॥

प० क्र०—(स) सूक्तवाक (देवतार्थ) देवता निमित्त होने पर भी प्रस्तर का अङ्ग है क्योंकि (तत्संयोगात्) उसका देवता से प्रस्तर का सम्बन्ध होता है ।

सं०—' प्रस्तर प्रहरण ' में ' प्रत्तिप्रत्ति ' नामक संस्कार कर्म की आशंका से उस पूर्व अर्थ को संपुष्ट करते हैं ।

प्रतिपत्तिरिति चेत्स्विष्टकृद्वदुभयसंस्कारःस्यात् ॥

प० क्र०—(प्रतिपत्तिः) प्रस्तर प्रहरण प्रतिपत्ति रूप संस्कार कर्म है (चेत्) यदि (इति) कहो तो असमीचीन है क्योंकि (स्विष्ट-कृद्वत) स्विष्टकृत कर्म के समान (उभय संस्कारः) दोनों प्रकार के कर्म (स्यात्) हैं ।

सं०—'सूक्त वाक' नामक मन्त्रों का अर्थ के अनुकूल विनियोग

कह कर अब पूर्व पक्ष करते हैं।

कृत्स्नोपदेशादुभयत्र सर्ववचनम् ॥१५॥

प० क्र०—(उभयत्र) दर्श तथा पूर्ण मास यज्ञ में (सर्व प्रवचनं) सूक्त वाक नामक सब मन्त्रों का पाठ करना बतलाया है क्योंकि (कृत्स्नोपदेशात्) 'सूक्त वाक' नाम के ग्रहण से सब मन्त्रों का प्रहरण के साथ अङ्ग होने से उपदेश मिलता है।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात् ॥१६॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष की निवृत्ति के निमित्त है (यथार्थ) 'सूक्तवाक' नामक मन्त्रों के अर्थ अनुकूल प्रत्येक यज्ञ में प्रस्तर प्रहरण में विभाग के साथ विनियोग होने से (शेष भूत संस्कारात्) वह यज्ञ के शेष भूत अर्थात् यज्ञ सम्बन्धी देवता का स्मरण दिलाने रूप संस्कार का रूप है।

सं०—इस अर्थ में शंका करते हैं।

वचनादिति चेत् ॥१७॥

प० क्र०—(वचनात्) 'सूक्त वाके न प्रस्तर प्रहरति' इस वाक्य से सूक्त वाक नामक सब मन्त्र का प्रत्येक यज्ञ में प्रस्तर प्रहरण में विनियोग होगा ठीक है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जाय तो ठीक नहीं।

सं०—उक्त शंका का समाधान किया जाता है।

प्रकरणाविभागादुभे प्रति कृत्स्नशब्दः ॥१८॥

प० क्र०—(कृत्स्न शब्द:) सब मन्त्रों के वाचक सूक्त वाक शब्द का ग्रहण (उभे प्रति) दर्श तथा पूर्णमास दोनों के अभिप्राय से

है क्योंकि (प्रकरण विभागात्) दोनों एक ही प्रकरण के हैं।

सं —'काम्य याज्वानु वाक्या नामक मन्त्रों का काम्येष्टि मात्र में विनियोग होना चाहिये उसका निरूपण करते हैं।

लिंगक्रमसमाख्यानात्काम्ययुक्तं समाम्नानम् ॥

प० क्र०—(समाम्नानं) काम्य याज्वानु वाक्य द्वाग्र का (काम्य-युक्तं) काम्येष्टियों में ही विनियोग होता है न कि शष्टि मात्र में क्योंकि (लिंग क्रम समाख्यानात्) क्रम एवं समाख्या सहित लिंग से ऐसा ही पाया गया है।

सं०—'आग्नीध्र' आदि मण्डगों के उपस्थान में प्रकृत मन्त्रों का विनियोग निरूपण करने को पूर्व पक्ष स्थापित करते हैं।

अधिकारे च मन्त्रविधिस्तदाख्येषु शिष्टत्वात् ॥

प० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष का सूचक है। (अधिकारे) ज्योति-ष्टोम याग के प्रकरण में। (मन्त्रविधिः) जो 'आग्नीध्र' आदि मण्डपों के उपस्थान निमित्त 'आग्नेयी' आदि मन्त्रोपदेश है वह। (अतदाख्येषु) अप्रकृत मन्त्रों में क्योंकि। (शिष्टत्वात्) साधारण रूप से किया गया है।

सं०—इस पूर्व पक्ष का समाधान यह है।

तदाख्योवा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् ॥२१॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के हटाने को आया है। (तदाख्यः) जिस स्तोत्र अथवा शस्त्र साधन आग्नेय आदि मन्त्र को प्रकरण में पढ़ा गया है उन्हीं का मण्डपोस्थान में विनियोग है न कि अप्रकृत का अतः (प्रकरणोपपत्तिभ्यां) प्रकरण तथा युक्ति सिद्ध है।

सं०—इसमें यह युक्ति है ।

अनर्थकश्चोपदेशः स्यादसम्बन्धात्फलवता (न ह्युपस्थानं फलवत्) ॥२२॥

प० क्र०—(च) और यदि 'आग्नीध्र' आदि मण्डप के उपस्थान में अप्रकृत मन्त्रों का विनियोग माना जावे । (उपदेशः) उपदेश विधि । (अनर्थकः) निष्फल (स्यात्) हो जाती है क्योंकि । (फलवता) फलित ज्योतिष्टोम के साथ । (असम्बन्धात्) असम्बन्ध होने से । (उपस्थाने) जिस उपस्थान से सम्बन्ध है वह (फलवत्) फलदायक (नहि) नहीं है ।

सं०—'आग्नेय ऐन्द्र' तथा वैष्णव मन्त्र पढ़े जाने से उनका स्तोत्र और शस्त्र आदि क्रिया में पूर्व ही कि वियोग होने से फिर उपस्थान विधान करके कर्मान्तर विनियोग नहीं मानना चाहिये क्योंकि एक वार विनियोग हुए का पुनः विनियोग नहीं हो सकता । इसका समाधान करते हैं ।

सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् ॥२३॥

प० क्र०—(सर्वेषां) सब मन्त्रों का (उपदिष्ट त्वात्) वाचः स्तोम याग में विनियोग का उपदेश है (च) अतः विनियोग किये का पुनः विनियोग करना दोष नहीं ।

सं०—'सोम भक्षण' से बतलाने वाले मन्त्रों को ' ग्रहण ' आदि विनियोग निरूपण करने को पूर्व पक्ष करते हैं ।

लिंगसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थताऽनुवाकस्य ।२४।

प० क्र०—(अनुवाकस्य) अनुवाक का (भक्षार्थता) भक्षण में ही प्रयोग होने में विनियोग है क्योंकि (लिंग समाख्यताभ्यां)

लिंग तथा समाख्या से ऐसा ही मिलता है।
सं०--इसका समाधान करते हैं।

तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदितत्वात् ॥२५॥

प० क्र०— तस्य) मन्त्रानुवाक सम्बन्धी (अपकर्षः) भक्षण वाक्य से भिन्न ग्रहण आदि में विनियोग क्योंकि (रूपोप देशाभ्यां) उनसे रूप ग्रहण आदि विधान होने से (अर्थस्य) ग्रहण आदि का (चोदित्वात्) वह यह लक्षण विधि से ही प्रेरित अथवा अर्थ वाला है।

सं०—उक्त वाक्य में तृप्ति और भक्षण के द्योतक में 'द्र' आदि मन्त्रों का भक्षण मात्र में विनियोग होना चाहिये।

गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात्तयोरेकार्थसंयोगात् ॥२६॥

प० क्र०—(मन्द्रादि) 'यन्द्र' मन्त्र (एक मन्त्रः) सम्पूर्ण मन्त्र (स्यात्) भक्षण के लिङ्ग हैं न कि तृप्ति के भी (गुणा भिधानात्) तृप्ति का गुण रूप कथन (तयोः) मन्त्र में तृप्ति और भक्षण दोनों के द्योतक भागों का (एकार्थ संयोगात्) भक्षण रूप अर्थ में ही मुख्य योग्य है।

सं०--शेष सोम रस के भक्षण में विनियुक्त मन्त्र का शेष सब सोमों के भक्षण में विनियोग करते हैं।

लिङ्ग विशेषनिर्देशात्समानविधानेष्वनैन्द्राणाममन्त्रत्वम् ॥२७॥

प० क०—(समान विधानुष्) शेष सोम रस युक्त ग्रहों के भक्षण का समान विधान (अनैन्द्राणां) जो 'ऐन्द्रा' ईश्वर निमित्त अप्रदत्त उसका भक्षण (अमन्त्रत्व) मन्त्र का विनियोग नहीं, क्योंकि (लिङ्ग विशेष निर्देशात्) उसमें इन्द्र पीत शेषत्व, अभिधापक सामर्थ्य रूप लिङ्ग विशेष का कथन मिलता है।

सं०—इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति ॥२८॥

प० क०—(वा) अथवा (यथा देवतं) जिस गुण रूप देवता को प्रधान स्वीकार कर ईश्वरोद्देश्य से ग्रहों द्वारा सोमरस हवन किया जाता है उस-उस देवता अनुसार 'ग्रहा' से अनैन्द्र ग्रहों के भक्षण में भी वही मन्त्र विनियोग होना चाहिये (हि) निश्चय क्योकि (तत्प्रकृतित्वं) इन्द्र तथा अनैन्द्र प्रदानों का परस्पर प्रकृति तथा विकृति भाव (दर्शयति) शास्त्र से पाया जाता है।

सं०—अब पुनरभ्युन्नीत सोम शेष के भक्षण विषय में निरूपण करते हैं।

पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेषत्वात् ॥

प० क०—(पुनरभ्युन्नीतेषु) ग्रहों में फिर से डाला हुआ सोमरस उसके भक्षण काल में। (सर्वेषां) इन्द्र तथा मैत्रा वरुण सब। (उपलक्षणं) ग्रहा करनी होगी क्योंकि। (द्विशेषत्वात्) वह सोम रस का भक्षण करने योग्य शेष है।

सं०—पूर्वपक्ष का निरूपण करते हैं।

अपनयाद्वा पूर्वस्याऽनुपलक्षणम् ॥३०॥

प० क०—(वा) पूर्व पक्ष द्योतक है। (पूर्वस्य) जिसके लिये

पहिले हवन किया गया। (अनुपलक्षणें) भक्ष मन्त्र में ऊहा नहीं होनी चाहिये। क्योंकि (अपनयात्) भक्षण करने योग्य शेष के साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहता।

सं०--पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

ग्रहणाद्वाऽपनयः स्यात् ॥३१॥

प० क्र०--(वा) पूर्वपक्ष के हटाने को प्रयोग किया गया है। (अनपनयः) इन्द्र-सम्बन्ध-विच्छेन न होने से (स्यात्) हो सकता है क्योंकि (ग्रहसात्) ग्रहण पाया जाता है।

सं०--'पात्नीवत' पात्रस्थ होमविशेष के भक्ष में पात्नीवान अग्निरूप ईश्वर देवता के साथ इन्द्र वायु आदि की ऊहा न करना निरूपण करते हैं।

पात्नीवते तु पूर्ववत् ॥३२॥

प० क्र०--(तु) पूर्व भक्ष का द्योतक है (पात्नीवते) पात्नीवत ग्रह में बचा होम शेष खाने के समय भक्ष मन्त्र में [पूर्ववत्] पूर्व की भांति ऊहा कर लेनी चाहिये।

सं०--पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

ग्रहणाद्वाऽपनीतं स्यात् ॥३३॥

प० क्र०--(वा) पूर्वपक्ष द्योतक है (उपानीतः) पात्नीवत् पात्र के शेष में इन्द्र वायु आदि के सम्बन्ध विच्छेद (स्यात्) होता है (ग्रहणात्) उसमें आग्रयण स्थाली से सम्बन्ध हीन लाने का ग्रहण हुआ।

सं०--पात्नी वान शेष के भक्ष मन्त्र में 'त्वष्टा' रूप ईश्वर की 'अनूहा करने को पूर्व पक्ष करते हैं।

त्वष्टारं तूपलक्षयेत्पानात ॥२४॥

प० क्र०—(तू) पूर्व पक्ष द्योतक है (त्वष्टारं) त्वष्टानामक परमात्मा की (उपलक्षयेत्) पात्नीवत शेष--भक्षण की अहा होनी ठीक है क्योंकि (पानात्) सोम ग्रहण करना सुना जाता है।
सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात ॥२५॥

प० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष के हटाने को प्रयोग है (एवं) इसी प्रकार पत्नी के साथ त्वष्ठा की अहा (न) नहीं (स्यात) हो सकती क्योंकि सोम के स्वीकार में दोनों का सम्बन्ध एक सा नहीं होता।

त्रिंशच्च परार्थत्वात ॥२६॥

प० क्र०--(च) तथा (त्रिशत) ये तीस देवताओं की अहा नहीं हो सकती क्योंकि (परार्थत्वात्) वह गौण होने से।

वषट्कारश्च कर्तृवत ॥२७॥

प० क्र०-(च) और (कर्तृवत) होता, अध्वर्यु आदि की यश मन्त्र में प्राप्त नहीं होती उसी प्रकार (वष्ठाकार) अनुवष्टाकार के देवता अग्नि की भी प्राप्ति नहीं हो सकती।
सं०--सत्ताइसवें सूत्र में पूर्व पक्ष का निराकरण करते हैं।

छन्दः प्रतिषेधस्तु सर्वगामीत्वात ॥२८॥

प० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष के लिये आया है। (छन्दः प्रतिषेधः) जगती छन्द के निषेध पूर्वक अनुष्ठव छन्द की अहा का विधान 'ऐन्द्र' तथा 'अनैन्द्र' प्रदानों के प्रकृति तथा विकृति भाव में

प्रमाण नहीं क्योंकि। (सर्वगामीत्वात्) ज्योतिष्टोम याग एक होने से सोम और सोम के अन्य धर्म का सातथा सब दानों में एकसा है।

सं०—ऐन्द्राग्न शेष भक्षण को अमन्त्रक कथन करते हैं।

ऐन्द्राग्ने तु लिंगभावात्स्यात् ॥३९॥

प० क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष के लिए आया है। (ऐन्द्राग्ने) 'ऐन्द्राग्न' नामक ग्रह-शेष के भक्षण में। (स्यात्) भक्ष मन्त्र विनियोग है कारण कि (लिङ्गभावात्) उनका विनियोजक लिङ्ग विद्यमान है।

सं —इस पक्ष का समाधान करते हैं।

एकस्मिन्वा देवतान्तराद्विभागवत् ॥४०॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष परिहार के लिये आया है। (विभागवत्) चार भाग करने। (एकस्मिन्) एक सोम भक्षण में ही होता है। (देवतान्तरात्) इन्द्र से 'इन्द्राग्नी' देवता भिन्न हैं।

सं०—अनेक छन्द वाले 'ऐन्द्र शेष' के भक्षण में उस भक्ष मन्त्र का विनियोग निरूपण करते हैं।

छन्दश्च देवतावत् ॥४१॥

प० क्र०—(च) शब्द। (तु शब्द के अर्थ में पूर्वपक्ष का द्योतक है। (देवतावत्) इन्द्र देवता के निमित्त प्रदत्त सोम भक्षण करने योग्य शेष में यक्ष मन्त्र का प्रयोग है उसी प्रकार। (छन्दः) एक गायत्री छन्द वाले सोम भक्ष्य शेष में उसी मन्त्र का विनियोग होना ठीक है।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

सर्वेषु वाऽभावादेकच्छन्दसः ॥४२॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के परिहार के लिये है (सर्वेषु) अनेक छन्द वाले एक ऐन्द्र भक्षण में विनियोग नहीं होते क्योंकि (अभावात् एक छन्द सः) कोई ऐन्द्र सोम एक छन्द वाला होता ही नहीं।

सं०—इसका समाधान यह है।

सर्वेषां वैकमंत्र्यमैतिशायनस्य भक्तिपानत्वात्सवनाधिकारो हि ॥४३॥

प० क्र०—'तु' पूर्व पक्ष परिहारार्थ है (सर्वेषां) इन्द्र, अनैन्द्र सब शेष भक्षण में (एक मन्त्र्यं) एक ही भक्ष मन्त्र का विनियोग है (हि) कारण कि (भक्ति पान त्वात्) 'दा' धातु के अर्थ में 'या' धातु प्रयोग करके बहुव्रीहि समास द्वारा लक्षणावृत्ति के आश्रय से (सत्वनाधिकारः) 'सवन' अर्थ किया है यह (ऐतिशायनस्य) महर्षि ऐतिशायन मानते हैं।

इति मीमांसा भाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

अथ तृतीयाध्याये तृतीयः पादः प्रारभ्यते।

सं०—अब ऋग्वेदादिका धर्म निरूपण करते हैं।

श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात् ॥१॥

प० क्र०—[जाताधिकारः] धर्म विशेष वाले मन्त्रों का 'उच्चैस्त्व' आदि धर्म [स्यात्] है क्योंकि [श्रुतेः] उनके विधान करने वाले 'उच्चैर्ऋचा' आदि वाक्यों में मन्त्र वाचक 'ऋचा' आदि

शब्दों का उपदेश पाया जाता है।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

वेदो वा प्रायदर्शनात् ॥२॥

प० क्र०—[वा] पूर्व पक्ष परिहारार्थ है [वेदः] ऋग्वेद के वाचक हैं क्योंकि [प्रायदर्शनात्] वेदों के उपक्रम से पदों का प्रयोग हुआ है।

सं०—उक्तार्थ साधक लिङ्ग निरूपण करते हैं।

लिङ्गाच्च ॥३॥

प० क्र०—[च] तथा [लिङ्गात्] उसका चिन्ह मिलने से भी उस अर्थ की प्रामाणिकता है।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः ॥४॥

प० क्र०—[च] और (धर्मोपदेशात्] साम का उच्चैस्त्व कथन से सिद्धि है [हि] क्योंकि [द्रव्येण] साम के साथ [सम्बन्धः] उच्चैस्त्व धर्म सम्बन्ध [न] ऋगादि पदों का वेदार्थ माने बिना नहीं हो सकता।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

त्रयीविद्याख्या च तद्विदि ॥५॥

प० क्र०—[च] और [तद्विदिः] तीनों वेद के जानने वालों में [त्रयी विद्याख्या] त्रयी विद्या नाम प्रवृत्ति से भी यही सिद्ध होता है।

सं०—इस में आशंका करते हैं।

व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत् ॥६॥

प० क्र०— [व्यतिक्रमे] ऋचा का यजुर्वेद में तथा यजु का ऋग्वेद में पाठ होने पर [यथा श्रुति] श्रुन्त उच्चैस्त्व आदि धर्म लाभ से भी उन शब्दों को वेद वाची मानना ठीक नहीं [चेत्] यदि [इति] ऐसा कहो ठीक नहीं।

सं०—इस आशंका का यह समाधान है।

न सर्वस्मिन्निवेशात् ॥७॥

प० क्र०—[न] ऋचा पाठ के व्यति क्रम से उसके धर्म का व्यति क्रम हो जाने में दोष नहीं क्योंकि वह [सर्वस्मिन] दोनों ऋग् और यजुर्वेद में [निवेशात्] मिले रहने से माना गया है।

सं०—उक्तार्थ को सम्पुष्ट करते हैं।

वेदसंयोगान्न प्रकरणेनबाध्येत ॥७॥

प० क्र०— [वेद संयोगात्] वेद सम्बन्ध से 'उच्चैस्त्व' आदि कार्यों का नियम है उसका [प्रकरणेन] प्रकरण से भी [न बाध्यते] हानि नही होती।

सं०—'अग्न्याधान' कर्म के साम का उपांशु गान निरूपण करते हैं।

गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेद-संयोगः ॥९॥

प० क्र०— [गुण मुख्य प्रतिक्रमे] गुण एवं मुख्य में वेद के धर्म उच्चैस्त्व आदि सम्बन्ध की आशंका पर (मुख्येन) गुण एवं मुख्य में ही (वेद संयोगः) वेद धर्म का सम्बन्ध होता है

क्योंकि (तदर्थत्वात्) गुण एवं धर्म सब मुख्य के हेतुक हैं न कि गुण के।

सं०—ज्योतिष्टोम याग याजुर्वेदिक है उसका उपांशु अनुष्ठान कथन करते हैं।

भूयस्तवेनोभयश्रुति ॥१०॥

प० क्र०—(उभय श्रुति) दो वेदों में सुने हुए कर्म का प्रधान रूप से विधान। (भूयस्त्वेन) अङ्गों की अधिकता से निर्णय किया जाता है।

सं०—यत्, श्रुति, लिङ्ग, और वाक्य तीनों विनियोजक बतलाये थे अत. प्रकरण की विनियोजकता कथन करते हैं।

असंयुक्तं प्रकरणादिकर्त्तव्यतार्थित्वात् ।११।

प० क्र —(असंयुक्तं) श्रुति, लिंग, तथा वाक्य का जिस का विनियोग नहीं हो उसका। (प्रकरणात्) प्रकरण से विनियोग समझना चाहिये क्योंकि। (इति कर्त्तव्यतार्थित्वात्) प्रधान में अङ्ग के विनियोग की आकांक्षा होती है।

सं०—क्रम योग से विनियोग निरूपण करते हैं।

क्रमश्च देशसामान्यात् ॥१२॥

प० क्र०—(च) और (क्रमः) अनुमन्त्रण मन्त्र तथा उपांशु याग के अङ्गागी भाव का बोधक स्थल है क्योंकि (देश-सामान्यात्) दोनों का एक ही स्थान है।

सं०—अब समाख्या का विनियोग निरूपण करते हैं।

आख्या चैवं तदर्थत्वात् ॥१३॥

प० क्र०—(च) तथा एवं क्रमानुसार (आख्या) समाख्या भी विनियोजक समझनी चाहिये क्योंकि (तदर्थत्वात्) उसके कर्त्ता क्रिया का योग मिलता है।

सं०—श्रुति प्रमाण एक स्थान पर एकत्रित होने पर किसके अनुसार विनियोग होना ठीक है इसके बलाबल का विचार करते हैं।

श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ॥१४॥

प० क्र०—(श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थानादि) श्रुति लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन छः (समवाये) श्रुति, लिंगे लिंग वाक्या प्रकरण, प्रकरण, क्रम और समाख्या इन दो २ भांति के प्रमाणों के एक स्थान में न जाने से (पारदौर्बल्य) पूर्व प्रबल और उत्तर निर्बल होता है कारण कि (अर्थ विप्र कर्षात्) पूर्व की अपेक्षा उत्तर से ठहर कर विनियोग होता है।

सं०—बारह उपसद् संज्ञक होम का निरूपण करते हैं।

अहीनो वा प्रकरणाद्गौणः ॥१५॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के लिये प्रयोग है। (अहीनः) अहीनयाग। (गौणः) ज्योतिष्टोम याग की गौण संज्ञा है कारण कि (प्रकरणात्) प्रकरण में उसका पाठ है।

सं०—इस पक्ष का समाधान करते हैं।

असंयोगात्तु मुख्यस्य तस्मादपकृष्येत ॥१६॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व पक्ष के निराश करने को आया है (तस्मात्) ज्योतिष्टोम याग से कई दिन में पूर्ण होने वाला 'अहीन' संज्ञक यागान्तर में (अपकृष्येत) द्वादश 'उपसद्' दोनों

का अपकर्ष सम्बन्ध होना ठीक है क्योंकि (मुख्यस्या) मुख्य वृत्ति द्वारा 'अहीन' शब्द (असंयोगात्) उसका वाच्य वाचक भाव ज्योतिष्टोम के साथ नहीं होता।

सं०—अब 'कुलाय' आदि संज्ञक यागों में 'प्रतिपत्' संज्ञक मन्त्रों का उत्कर्ष निरूपण करते हैं।

द्वित्वबहुत्वयुक्तं वा चोदनात्तस्य ॥१७॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष का द्योतक है। (द्वित्वबहुत्व युक्तं) दो अथवा अधिक यजमान वाचक द्विवचन और बहुवचनान्तपद मन्त्रों का ज्योतिष्टोम से पृथक् कर 'कुलाय' आदि यज्ञ में नियोजित करना ठीक है क्योंकि (तस्य) ज्योतिष्टोम में दो अथवा बहुत यजमान की (अचोदनात्) प्रेरणा अथवा विधि नहीं बतलाई गई है।

सं०—इसमें पूर्व पक्ष करते हैं।

पक्षेणार्थकृतस्येति चेत् ॥१८॥

प० क्र०—(पक्षेण) यजमान की असमर्थता से ज्योतिष्टोम में भी (अर्थ कृतस्य) अर्थ से एक अथवा दो यजमान होना सम्भव है (चेत्) यदि (इति) कथन ठीक नहीं।

सं०—इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

नप्रकृतेरेकसंयोगात् ॥१६॥

प० क्र०—(न) यह कथन ठीक नहीं क्योंकि। (प्रकृतेः) ज्योतिष्टोम यज्ञ में। (एक संयोगात्) एक ही यजमान का विधान है।

सं०—अब 'जावनी' पशुयाग में 'उत्कर्ष' निरूपण करते हैं।

जावनी चैकदेशत्वात् ॥२०॥

प० क्र०-(च) तथा (जाघनी) जाघनी का पशुयज्ञ में उत्कर्ष होने से भी (एकदेशत्वात्) उक्त पशु (एकदेश) अङ्ग है ।

सं०—पत्नी संयाज में पूर्व पक्ष करते हैं ।

चोदना वा अपूर्वत्वात् ॥२१॥

एकदेश इति चेत् ॥२२॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष का द्योतक है । (चोदना) उस वाक्य में 'पत्नी संयाज' के अङ्ग रूप से 'जाघनी' का विधान है क्यों कि (अपूर्वत्वात्) ऐसा करने से अपूर्व अर्थ लाभ होता है और (एकदेशः) पशु हिंसा करने से उसके अङ्ग 'जाघनी' की प्राप्ति है । (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जावे तो असम्भव है ।

सं०—इस हिंसा करने का समाधान करते हैं कि क्या है !

नप्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ॥२३॥

प० क्र०—(न) यह कथन ठीक नहीं क्योंकि । (प्रकृतेः) प्रकृत याग में जाघनी का आना मानने से । (अशास्त्र निष्पत्तेः) सर्व शास्त्र में निसिद्ध बतलाई 'हिंसा' करनी पडती है ।

सं०—'सन्तर्दन' का ज्योतिष्टोम याग की संस्था भूत "उकथ्य" आदि यागों में उत्कर्ष निरूपण करने को पूर्व पक्ष करता हूँ ।

सन्तर्दनं प्रकृतौ क्रयणवदनर्थलोपात्स्यात् ।२४।

प० क्र०—(सन्तर्दनं) सन्तर्दन का (प्रकृतौ) अग्निष्टोम में (स्यात्) मिला हुआ (पैठ) है क्योंकि (अनर्थलोपात्) ऐसा मानने से वाक्यार्थ का लोप नहीं होता और (क्रयणवत्) सोम मोल लेने के साधन स्वर्ण तथा गौ आदि के समान उसका विधान सम्भव है ।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान यह है ।

उत्कर्षो वा ग्रहणाद्विशेषस्य ॥२५॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष का खण्डन करता है (उत्कर्षः) 'अग्निष्टोम प्रकृति में सन्तर्दन का उत्कर्ष माना है क्योंकि (विशेषस्य) उस वाक्य में ज्योतिष्टोम का दीर्घ सोम रूप विशेषण (ग्रहणात्) लिया गया है ।

सं०—पुनः पूर्व पक्ष किया जाता है ।

कर्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२६॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष द्योतक है (कर्तृतः) यजमान सम्बन्ध से ही ज्योतिष्टोम याग का 'दीर्घ सोम' विशेषण है क्योंकि (विशेषस्य) उसका विशेषण (तन्निमितत्वात्) यजमान निमित्तक है ।

सं०—इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है ।

क्रतुतो वाऽर्थवादानुपपत्तेः स्यात् ॥२७॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के परिहार के निमित्त आया है (क्रतुतः) याग सम्बधेन दीर्घ सोम विशेषण मानना ठीक (स्यात) है ऐसा मानने से (अर्थ वादानुपपत्तेः) 'धृत्यैः' 'शब्द से 'सन्तर्दन' का सोम धारण रूप जो कथित फल वह नहीं बनता ।

सं०—इस अर्थ में सन्देह करते हैं ।

संस्थाश्च कर्तृवद्धारणार्थाविशेषात् ॥२८॥

प० क्र०—(च) शब्द 'तु' शब्द के स्थान में शंका का द्योतक है (कर्तृवत्)जैसे ज्योतिष्टोम के कर्त्ता का सब संस्थाओं में निवेश

हैं उसी प्रकार (संस्थाः) सन्तर्दन का भी सब संस्थाओं में निवेश होना ठीक है क्योंकि (धारणार्थाविशेषात्) सोम धारण सब में एक सा ही है ।

सं०—इसका समाधान यह है ।

उक्थ्यादिषु वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२६॥

प० क्र०—(वा) शंका समाधानार्थ प्रयोग है (उक्थ्यादिषु) उकथ्य में ही सन्तर्दन का मिला हुआ मानना ठीक है क्योंकि (अर्थस्य) उसमें 'सन्तर्दन' का फल (विद्यमानत्वात्) विद्यमान है ।

सं०—फिर आशंका उठाते हैं कि:-

अविशेषात्स्तुतिर्व्यर्थेति चेत् ॥३०॥

प० क्र०—(स्तुतिः) उकथ्यादि की दीर्घ सोम रूप से प्रशंसा (व्यर्थ है क्योंकि (अविशेषात्) अग्निष्टोम की सब संस्थाओं में सोम एक सा है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं ।

सं०—उस शंका का समाधान करते हैं ।

स्यादनित्यत्वात् ॥३१॥

प० क्र०—(स्यात्) 'उकथ्य' आदि में सोम अधिक होता है क्योंकि (अनित्यत्वात्) दश मुट्ठी परिमाण का विधान करने वाला शास्त्र अनित्य है ।

सं०—'प्रवर्ग्य' संज्ञक कर्म का प्रथम प्रयोग में निषेध पूर्वक निवेश में निरूपण करते हैं ।

संख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात्स्यात् ॥३२॥

प० क्र०—(संख्यायुक्त) संख्या वाची प्रथम पद वाला वाक्य (क्रतोः) ज्योतिष्टोम याग सम्बन्धी 'प्रवर्ग्य' संज्ञक कर्म का निषेध करने वाला (स्यात्) है क्योंकि (प्रकरणात्) उस प्रकरण में उसका पाठ है ।

सं०—इस पूर्व पक्ष का यह समाधान है ।

नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगाल्लिङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२३॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (कर्तृ-संयोगात्) कर्त्ता की प्रथम प्रवृत्ति के लिये (नैमित्तिकं) ज्योतिष्टोम का प्रथम यज्ञ नाम कहा गया है क्योंकि । (लिङ्गस्य) प्रथम द्वितीय आदि लोक व्यवहार होने से । [तन्निमित्तत्वात्] कर्त्ता की प्रथम प्रकृति आदि के लिये देखा जाता है ।

सं०—'पौष्ण पेषण' का विकृति यज्ञ में विनियोग प्रयोग निरूपण करते हैं ।

पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेताऽचोदनात्प्रकृतौ ॥

प० क्र०—[पौष्णं] सब पदार्थों को पुष्टिकारक परमात्मा निमित्तक प्रदेयपदार्थ । [पेषणं] पीस कर प्रदान विधान उसका । [विकृतौ] पूसा देवता के विकृति याग में विनियोग । [प्रतीयते] मानना चाहिये क्योंकि [प्रकृतौ] दर्शपूर्णमास याग में [अचोद-नात्] पूसा देवता की विधि नहीं पाई जाती ।

सं०—पेषण केवल चरु में घुसा हुआ है बतलाते हैं ।

तत्सर्वार्थमविशेषात् ॥२५॥

प० क्र०—[तत्] वह [पेषण] का [सर्वार्थं] परमात्मा निमित्त

अदेय पदार्थों में मिला होना चाहिये क्योंकि [अविशेषात्] उसका विधान समान रूप से है ।

सं०—इसका समाधान करते हैं ।

चरौ वाऽर्थोक्तं पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात् पशौ न स्यात् ॥३६॥

प० क्र०—[वा] पूर्व पक्ष के लिये आया है [चरौ] केवल चरु में उस पेषण का मिलाव है सर्वत्र नहीं [पुरोडाशे] पुरोडाश में [अर्थोक्तं] वह पूर्व अर्थ से मिलता है और [अर्थ विप्रति-षेधात्] पीसने रूप अर्थ का असम्भव होने से [पशौ] पशु में [न स्यात्] वह स्वयं नहीं होता ।

सं०—इस अर्थ में शंका कहते हैं ।

चरावपीति चेत् ॥३७॥

प० क्र०—(चरौ, अपि) चरु में भी पीसना असम्भव है चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जावे तो ठीक नहीं ।

सं०—इस आशंका का समाधान करते हैं ।

न पक्तिनामत्वात् ॥३८॥

प० क्र०—(न) कथन ठीक नहीं क्योंकि (पक्ति नामत्वात् केप) भात को चरु कहते हैं ।

सं०—पौष्ण चरु में एक देवताक पेषण का निवेश है द्विदेवतक (सौमा पौष्णा) और ऐन्द्रा पौष्णा चरु में नहीं यह निरूपण करते हैं ।

एकस्मिन्नैकसंयोगात् ॥३९॥

प० क्र०—(एकस्मिन्) एक देवता परक पेषण का निवेश है द्वि देवता परक चरु में नहीं (एकसंयोगात्) पेषण विधान करने वाले वाक्य से चरु के साथ ही उनका योग मिलता है।

सं०— हेतु देते हैं।

धर्मविप्रतिषेधाच्च ॥४०॥

प० क्र—(च) और (धर्म विप्रतिषेधात्) दोनों धर्मों का विरोध होने से भी द्वि देवता परक चरु में पेषण का निवेश नहीं हो सकता।

सं०—इसमें पूर्व पक्ष करते हैं।

अपि वा सद्वितीये स्याद्देवतानिमित्तत्वात्।४१।

प० क्र०—(अपि) 'वा' दोनों शब्द पूर्व पक्ष के द्योतक हैं (स द्वितीये) द्वि देवता परक चरु में भी (स्यात्) पेषण का मिलाव होना चाहिये क्योंकि (देवता निमित्तत्वात्) उसके निवेश का निमित्त देवता उसमें है

सं०—उस अर्थ में लक्षण निरूपण करते हैं।

लिंगदर्शनाच्च ॥४२॥

प० क्र०—(च) और (लिंगदर्शनाच्च) लक्षण देखने से भी उस अर्थ की सिद्धि होती है।

सं०—"सोमा पौष्णं चरु निर्वपेन्नेम पिष्टं पशुकाम" यह अर्थ पिष्ट का विधायक है लक्षण नहीं अतः इसमें अर्थ सिद्धि नहीं पाई जाती।

वचनात्सर्वपेषणं तं प्रति शास्त्रवत्त्वादर्थाभावा

द्विचरावपेषणं भवति ॥४३॥

प० क्र०—(वचनात्) उक्त वाक्य नेमपिष्ट का विधायक होने से (सर्वं पेषणं) पशु पुरोडाश, और चरु सब में पेषण माने जाने से (तं प्रति) उसके मानने से (शास्त्र वाक्तत्वात्) वह वाक्य अर्थ वाला हो सकता है और अर्थोभावात्) और असम्भव तथा फल के अभाव के कारण पशु पुरोडास में यदि न माने तो (द्विचरौ) सौमा पोष्ण चरु में भी (अपेषणं भवति) वह पेषण न बन सकेगा।

सं०—इसमें पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

एकस्मिन्वाऽर्थधर्मत्वादैन्द्राग्नवदुभयोर्न स्यादचोदितत्वात् ॥४४॥

प० क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है (ऐन्द्राग्नवत्) चार भाग करने का एक देवता परक आग्नेय पुरोडाश में ही घटता है और दो देवता परक एन्द्राग्न पुरोडाश में नहीं उसी प्रकार (एकस्मिन्) एक देवता परक पौषण चरु में (स्यात्) पेषण का निवेश है (उभयोः) दो देवता परक ' सौमा पेष्णं ' और 'ऐन्द्रा पौषण चरु में (न) नहीं क्योंकि (अर्थ धर्मत्वात्) पिष्ट भाग याग का धर्म अभिप्रेत है उसका (अचोदित्वात्) सौमा पौषण आदि में विधान नहीं।

सं०—' तस्मात्पूषा ' वाक्यान्त में 'अदन्त को हि स०' यह शेष वाक्य कहा गया है इसमें पूषा को (दन्तहीन) कहा है अतः वह प्रपिष्ट भाग उसका धर्मविदित होता है।

हेतुमात्रमदन्तत्वम् ॥४५॥

प० क्र०—(अदन्तत्वं) उस वाक्य शेष में जो 'अदन्तत्व' कथन है वह (हेतु मात्रं) देवता मात्र के शरीर हीन होने में कारण जानना चाहिये ।

सं —जो पूर्वोक्त लिंग से निवेश सिद्धि है को वह अनुचित कैसे कहा जा सकता है ।

वचनं परम् ॥४६॥

प० क्र —(वचनं) विधि वाक्य है लक्षण नहीं ।

इति श्री मीमांसादर्शने तृतीयाध्याये तृतीय पादः समाप्तः ।

अथ तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः प्रारभ्यते ॥

सं०—' निवीतं मनुष्याणां ' को अर्थ वाद प्रतिपादन करने के निमित्त पूर्वपक्ष किया जाता है ।

निवीतमिति मनुष्यधर्मः शब्दस्य तत्प्रधान-त्वात्॥१॥

प० क्र०—(निवीतमिति मनुष्य धर्मः) निवीत यह मनुष्य कर्माङ्ग बताया गया है (शब्दस्य) उक्त शब्द से (तत्प्रधानत्वात्) मनुष्य कर्म की प्रधानता है ।

सं०—इसमें आशंका करते हैं ।

अपदेशो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२॥

प० क्र०—[वा] शंका का द्योतक है [उपदेशः] उक्त वाक्य का अनुवाद है न कि विधि क्योंकि [अर्थस्य] निवीत [विद्यामन-

स्यात्) पूर्व से लोक सिद्ध है ।

सं०—इस शंका का यह समाधान है ।

विधिस्त्वपूर्वत्वात्स्यात् ॥३॥

प० क्र०—'तु' शंका परिहार के लिये है (विधिः) यह विधि वाक्य (स्यात्) है क्योंकि (अपूर्वत्वात्) निवीत रूप अर्थ अपूर्व है ।

सं०—इसी पूर्वपक्ष में और पूर्वपक्ष करते हैं ।

स प्रायात्कर्मधर्मः स्यात् ॥४॥

प० क्र०—(स) निवीत (कर्म धर्मः) प्रकृत कर्म का अंग (स्यात्) है क्योंकि (प्रायात्) उसका उस प्रकरण में पाठ है ।

सं०—उस पूर्व पक्ष में विशेषता यह है कि—

वाक्यस्य शेषवत्वात् ॥५॥

प० क्र०—(वाक्यस्य) उस वाक्य (शेषवत्वात्) शेष में पढ़े समाख्या बल से अध्वर्यु कर्तृक प्रकृत कर्म के अंग निवीत का विधान करता है सर्वत्र नहीं ।

सं०—अब दूसरे पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं ।

तत्प्रकरणे यत्तत्संयुक्तमविप्रतिषेधात् ॥६॥

प० क्र०—(तत्) वह वाक्य (प्रकरणे) दर्श पूर्णमास कर्म के प्रकरण में (यत्) जो मनुष्य कर्म है (तत्संयुक्त) उसका अंग निवीत का विधान होने से (अप्रतिषेधात्) उस पूर्वोक्त 'षष्ठयन्त' पद की संगति बैठ जाती है ।

सं०—पुनः पूर्व पक्ष का समर्थन करते हैं ।

तत्प्रधाने वा तुल्यवत्प्रसंख्यानादितरस्य तदर्थत्वात् ॥७॥

प० क्र०—(वा) एक देशी समाधान के निराकरण के लिये आया है (तत्प्रधाने) यह वाक्य मानुष प्रधान सब कर्मों में निवीत रूप अङ्ग का विधान करने वाला है क्योंकि (तुल्यवत्प्रसंख्यानात्) उपवीत वाक्य समान उससे उस कर्म मात्र का बोधक होने से (इतरस्य) षष्ठी पद 'मनुष्याणां' (तदर्थत्वात्) उस अर्थ में घटता है।

सं०—अब पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

अर्थवादो वा प्रकरणात् ॥८॥

प० क्र०—(वा) सिद्धांत सूचनार्थ आया है (अर्थवादः) वह वाक्य उपवीत विधि का स्नातक अर्थवाद है क्योंकि (प्रकरणात्) प्रकरण से ऐसा ही पाया जाता है।

सं०—उक्त अर्थ में युक्ति देते हैं।

विधिना चैकवाक्यत्वात् ॥९॥

प० क्र०— (च) तथा (विधिना) उपवीत विधिवाक्य के साथ एक (वाक्यत्वात्) वाक्य की एक वाक्यता प्राप्त होने से वह अर्थ नहीं मिलता।

सं०—'दिग् विभाग' को अर्थवाद निरूपण करते हैं।

दिग्विभागश्च तद्वत्सम्बन्धस्यार्थहेतुत्वात् ।१०।

प० क्र०—(च) तथा (तद्वत) निवीत के समान दिग् विभाग भी अर्थवाद है क्योंकि (सम्बन्धस्य) वह दिग् सम्बन्ध (अर्थ

हेतुत्वात्) अर्थ हेतु प्रसिद्ध है ।

सं०—परुष दित आदि को अर्थवाद कहते हैं ।

परुषि दितपूर्णघृतविदग्धं च तद्वत् ॥११॥

प० क्र०—(च) और (तद्वत्) निवीत समान (परुषिदितपूर्णघृतविदग्धं) परुषि दित, पूर्ण, घृत और विदग्ध यह चारों अर्थवाद हैं ।

सं०—अमृत निषेध की विधि निरूपण करते हैं ।

अकर्म क्रतुसंयुक्तं संयोगान्नित्यानुवादः स्यात् ॥१२॥

प० क्र०—(क्रतु संयुक्तं) दर्श पूर्ण में कथित (अकर्म) अनृत निषेध (नित्यानुवादः) नित्य प्राप्त का अनुवाद (स्यात्) है क्योंकि (संयोगात्) निषेध का वाक्यान्तर से विधान है ।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं ।

विधिर्वा संयोगान्तरात् ॥१३॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के परिहार के लिये आया है (विधिः) निषेध वाक्य विधि है अनुवाद नहीं क्योंकि (संयोगान्तरात्) उद्देश्य भेद से दोनों वाक्यों का भेद है।

सं०—अब जंभाई हेतुक मन्त्रोच्चारण को प्रकृत याग में पुरुष धर्म निरूपण किया जाता है ।

अहीनवत्पुरुषस्तदर्थत्वात् ॥१४॥

प० क्र०—(अहीनवत्) जिस प्रकार 'उपसद' संज्ञक यज्ञ 'अहीन'

का धर्म है उसी प्रकार (पुरुष धर्मः) जंभाई निमित्त मन्त्र का उच्चारण भी यह पुरुष मात्र का धर्म है क्योंकि (तदर्थत्वात्) उसके उद्देश्य से विधान पाया जाता है।

सं०—इस पूर्व पक्ष का यह समाधान है।

प्रकरणविशेषाद्वा तद्युक्तस्य संस्कारो द्रव्यवत् ॥१५॥

प० क्र०—'वा' पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है। (द्रव्यवत्) व्रीहि रूप द्रव्य का प्रोक्षण (तद्युक्तस्य) याग सम्बन्धी पुरुष का (संस्कारः) मन्त्रोच्चारण संस्कार है (प्रकरण विशेषात्) प्रकरण की विशेषता से।

सं०-'अहीनवत्' दृष्टान्त का समाधान करते है।

व्यपदेशादपकृष्येत ॥१६॥

प० क्र०—(व्यपदेशात्) अधिक कथन से [अपकृष्येत] उपसद् होम का अपकर्ष होता है।

सं०—अब गोरण आदि निषेध को ब्राह्मण मात्र के लिये होना कहते हैं।

शंयो च सर्वपरिदानात् ॥१७॥

प० क्र०—[च] और [शंयौ] महाराज 'शम्भु' के उपदेश में जो ब्राह्मण के 'अवगोरण' आदि का निषेध है वह ब्राह्मण मात्र के लिये जानना चाहिये क्योंकि [सर्वपरिदानात्] उससे उसका ग्रहण है।

सं०-'रजस्वला' से सम्भाषण निषेध निरूपण करते हैं।

प्राग परोधान्मलवद्वाससः ॥१८॥

प० क्र०—(मलवद्वास सः) रजस्वला से सर्व प्रकार के सम्भाषण का निषेध (प्राग) यज्ञारम्भ में ही (अपरोधान्) उसे यज्ञ भूमि से बाहर करके याग का विधान करे ।

सं०—इसमें युक्ति देते हैं ।

अन्नप्रतिषेधाच्च ॥१९॥

प० क्र०—(च) तथा (अन्नप्रतिषेधात्) रजस्वला संभोग के निषेध से भी यह कथन ठीक है ।

सं०—सुवर्ण धारण मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है ।

अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात् ॥२०॥

प० क्र०—'तु' सिद्धान्त सूचक है (अप्रकरणे) किसी यज्ञ विशेष में अपठित सुवर्ण धारण आदि (तद्धर्मः) मनुष्य मात्र का धर्म है क्योंकि (ततः) प्रकरण से (विशेषात्) वह अद्भुत है ।

सं०—इसमें पूर्व पक्ष करते हैं ।

अद्रव्यत्वात्तु शेषः स्यात् ॥२१॥

प० क्र०—(तु) पूर्वपक्ष सूचक है (शेषः) सुवर्ण आदि का धारण याग शेष (स्यात्) है क्योंकि (अद्रव्यत्वात्) वह एक क्रिया है ।

सं०—इसमें युक्ति यह है किः—

वेदसंयोगात् ॥२२॥

प० क्र०—(वेदसंयोगात्) उक्त वाक्य का यजुर्वेद से सम्बन्ध है अतः उक्तार्थ की सिद्धि है।

सं०—पुनः इसमें युक्ति देते हैं।

द्रव्य पर त्वाच्च ॥२३॥

प० क्र०—(च) तथा (द्रव्यपरत्वात्) उस वाक्य में आये 'हिरण्य' पद को याग सम्बन्धी सुवर्ण का स्मारक होने से भी ठीक है।

सं०—इस पक्ष का समाधान करते हैं।

स्याद्वाऽस्यसंयोगवत्फलेन सम्बन्धस्तस्मात्कर्मै-तिशायनः ॥२४॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष का निरास करता है (संयोगवत्) फल सम्बन्ध से उसी प्रकार (फलेन सम्बन्धः) फल के साथ सम्बन्ध से (स्यात्) होता है (तस्मात्) अतएव (कर्म) वह प्रधान कर्म है (ऐतिशायनः) ऐसा ऐतिशायन ऋषि मानते हैं।

शेषोऽप्रकरणेविशेषात्सर्वकर्मणाम् ॥२५॥

सं०—'जप' नामक यज्ञों को 'वैदिक कर्म' का अंग निरूपण करते हैं।

प० क्र०—(अप्रकरणे) अप्रकरण पठित 'जप' आदि होम (सर्व कर्मणा) 'लौकिक वैदिक' सम्पूर्ण कर्म का (शेषः) अङ्ग है क्योंकि (अविशेषात्) समान रूप से उसका पाठ है।

सं०—उक्त पूर्व पक्ष का समाधान किया जाता है।

होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नाहवनीयसंयोगात् ॥२६॥

प० क्र०—(तु) शब्द पूर्व पक्ष के हटाने को आया है । (होमा:) याग (व्यवतिष्ठेरन) वैदिक कर्मों में ही कर्त्तव्य है क्योंकि (आहवनीय संयोगात्) वैदिक कर्म तथा होम उभय था (आहवनीय) अग्नि सम्बन्धी होते हैं ।

सं०—इसमें हेतु देते हैं ।

शेषश्च समाख्यानात् ॥२७॥

प० क्र—(च) और (शेष:) वैदिक कर्माङ्ग होने से क्योंकि (समाख्यानात्) 'आध्वर्यव' काण्ड में पढ़ा गया है ।

सं०—अश्व प्रतिग्रह हेतुक वारुणी इष्टि की अङ्गरूपता से कर्त्तव्यता निरूपण करते हैं ।

दोषात्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात् ॥२८॥

प० क्र०—(तु) शब्द पूर्व पक्ष सूचक है (इष्टि:) अश्व प्रति ग्रह हेतुक इष्टि विधान (लौकिके) सांसारिक अश्व प्रति ग्रह में भी (स्यात्) होती है क्योंकि (दोषात्) प्रतिग्रह में दोष बतलाया गया है (हि) और (वैदिके) वैदिक अश्व प्रतिग्रह में (शास्त्रात्) शास्त्र सिद्ध होने के कारण (न दोष स्यात्) दोष नहीं है ।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं ।

अर्थवादो वाऽनुपपातात्तस्माद्यज्ञे प्रतीयेत ।२९

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष निवृत्यार्थ आया है (अर्थवादः) अश्व प्रति ग्रह से जलोदर रोग होने की निवृत्ति के लिये उक्त इष्टि है

यह अर्थवाद है कारण कि (अनुपपातात्) अश्व प्रति ग्रह में कोई पाप नहीं अतः (यज्ञे) जिस यज्ञ में अश्व दक्षिणा की विधि है उसमें (प्रतीयेत) अङ्गरूप से उस इष्टि की कर्त्तव्यता जाननी चाहिये ।

सं०—अश्व दाता को उक्त इष्टि को करने का निरूपण करते हैं ।

अचोदितं च कर्मभेदात् ॥३०॥

प० क्र०—(च) और (अचोदितं) विधान की गई न कि दानार्थ और (कर्मभेदात्) दान और प्रतिग्रह दोनों के भेद से ।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधानं करते हैं ।

सा लिंगादार्त्विजे स्यात् ॥३१॥

प० क्र०—(सा) उक्त इष्टि (आर्त्विजे) यजमान को (स्यात्) करना चाहिये क्योंकि (लिंगात्) प्रमाणों से ऐसा ही मिलता है ।

सं०—वैदिक सोमपान में 'वमन' होने पर सोमेन्द्री इष्टि करना चाहिये ।

पानव्यापच्च तद्वत् ॥३२॥

प० क्र०—(च) तथा (तद्वत्) अश्वदान इष्टि निमित्त है उसी प्रकार (पानव्यापत्) सोमपान वमन भी इष्टि का निमित्त है ।

सं०—इसका समाधान करते हैं ।

दोषात्तु वैदिके स्यादर्थाद्धि लौकिके न दोषः स्यात् ॥३३॥

प० क्र०—'तु' शब्द उस पक्षकी निवृत्ति के लिये आया है(वैदिके) वैदिक सोमपान--वमन होने पर (स्यात्) इष्टि कर्त्तव्य है क्योंकि (दोषात्) उसके वमन का आरम्भ वाक्य में दोष नहीं बतलाया है और (लौकिके) लौकिक सोमपान में (दोषः) वमन होना दोष (न स्यात्) नहीं हो सकता (हि) कारण कि (अर्थात्) वह वमन निमित्त ही होता है।

सं०—यजमान उक्त इष्टि करे अतः पूर्वपक्ष लेता है।

तत्सर्वत्राविशेषात् ॥३४॥

प० क्र०—(तत्) वह सोम वमन (सर्वत्र) ऋत्विक और यज-मान दोनों को इष्टि करने में कारण है क्योंकि (अविशेषात्) वह समान रूप सुना जाता है।

सं०—इसका समाधान किया जाता है।

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥३५॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के हटाने को प्रयोग किया गया है (स्वा-मिनः) यजमान को वह इष्टि करनी चाहिये क्योंकि (तदर्थत्वात्) वह कर्म फल का भोगने वाला है।

सं०—उक्तार्थ में लक्षण दिखाते हैं।

लिंग दर्शनाच्च ॥३६॥

प० क्र०—(च) और (लिंगदर्शनात्) लिंग के मिलने से वह अर्थ सिद्ध होता है।

सं०—अब अंगुल चौड़ी दो खंडों की अग्नि में होम करने का निरूपण करते हैं।

सर्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात् ॥३७॥

प० क्र०—(हविषः) हवि का (सर्वं प्रदानं) अग्नि में सर्वं प्रदान होना (तदर्थत्वात्) वह उसके निमित्त है।
सं०—इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

निरवदानात्तु शेषः स्यात् ॥३८॥

प० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष निरास हेतुक पद है (शेषः) कृत्स्न पुरोडाश के स्थान में स्विष्ट कृद् और कार्यों के लिये होम होना (स्यात्) हैं (निरवदानात्) कृत्स्न पुरोडाश रूप हवि से अनुष्ठ पर्व परिमाण दो टुकड़ों को काट कर याग का विधान है।

सं०—इसमें आशंका करते हैं।

उपायो वा तदर्थत्वात् ॥३९॥

प० क्र०—(वा) आशंका सूचनार्थ आया है (उपायः) द्विर्हविषः शब्द से हवन का नियम कहा गया है. ' द्विरवदान ' से हवन नहीं करना चाहिये कारण कि (तदर्थत्वात्) सब पुरोडाश हवनार्थ है।

सं०—शंका का समाधान करते हैं।

कृतत्वात्तु कर्मणः सकृत्स्याद्‌द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥४०॥

प० क्र०—(तु) शब्द आशंका निवारार्थ आया हैं (सकृत) एक बार (कर्मणः) हवन के (कृतत्वात्) कर देने से (स्यात्) हवन विधि वाक्य [द्रव्यस्य] शेष पुरोडाश क्योंकि [गुणभूतत्वात्] उक्त क्रिया के लिये गौण है।

सं०—इस अर्थ में हेतु देते हैं।

शेषदर्शनाच्च ॥४१॥

प० क्र०—[च] और [शेषदर्शनात्] शेष पुरोडाश से कार्यों का विधान मिलता है।

सं०—आग्नेयादि तीनों हवियों से 'स्विष्टकृत्' आदि शेष कर्मों की कर्त्तव्यता कहते हैं।

अप्रयोजकत्वादेकस्मात्क्रियेरञ्छेषस्य गुणभूतत्वात् ॥४२॥

प० क्र०—[एकस्मात्] एक हवि द्वारा [क्रियेरन्] 'स्विष्टकृत' शेष कर्म कर्त्तव्य है तीनों हवियों में से नहीं [शेषस्य] शेष कर्मों केलिये [गुणभूतत्वात्] गुण भूत होने से [अप्रयोजकत्वात] वह उनकी बार बार कर्त्तव्यता का प्रयोजक नहीं।

सं०—अब उक्तार्थ में हेतु देते हैं।

संस्कृत त्वाच्च ॥४३॥

प० क्र०—[च] तथा [संस्कृतत्वाच्च] एक बार उस कर्म के होने से भी प्रधान हवि संस्कृत हो जाती है।

सं०—उस पूर्व पक्ष का समाधान किया जाता है।

सर्वेभ्यो वा कारणविशेषात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४४॥

प० क्र०—[वा] पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये आया [सर्वस्मात्] शेष आहुतियों से यह करने योग्य कर्म है [कारणविशेषात्]

उनके होने में कारण समान है एवं [संस्कारस्य] संस्कार [तदर्थत्वात्] हवि मात्र के निमित्त होने से वह प्रति हविः हो सकता है ।

सं०—अर्थ साधक लिंग को निरूपण करते हैं ।

लिंगदर्शनाच्च ॥४५॥

प० क्र०—[च] तथा [लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग के पाये जाने से वह अर्थ सिद्ध है ।

सं०—उन तीनों हवियों में एक हवि कौनसी है ।

एकस्माच्चेद्याथाकाम्यमविशेषात् ॥४६॥

प० क्र०—(चेत) यदि [एकस्मात्] एक हविः पक्ष है तो [यथा कामी] स्वेच्छा से किसी एक हवि से उक्त कर्म का अवदान करे क्योंकि [अविशेषात्] वह तीनों हवियां समान हैं ।

सं०— पूर्व पक्ष का समाधान यह है ।

मुख्याद्वापूर्वकालत्वात् ॥४७॥

प० क्र०—[वा] पूर्व पक्ष का निराकरण करता है (मुख्यात्) इस हवि का परमात्मा निमित्त अवदान किया जाता है उसी से उसका अवदान होना क्योंकि (पूर्वकालत्वात्) वह सबसे प्रथम त्यागने योग्य है !

सं०—चार प्रकार से आग्नेय पुरोडाश का भक्षण ऋत्विजों को दिया जावे इसका निरूपण करते हैं ।

भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः परिक्रये ॥४८॥

प० क्र०—[दान शब्दः) चार विभाग करके ऋत्विजों को देना

[परिक्रये] वह उनके परिक्रय निमित्त है न कि भक्षण के लिये क्योंकि [भक्षा श्रवणात्] दान विधायक वाक्य में भक्षण का नाम नहीं सुना ।

सं०--इस अर्थ में हेतु देते हैं ।

तत्संस्तवाच्च ॥४९॥

प० क्र०--(च] और [तत्संस्तवात्] पुरोडाश दान दक्षिणा के नाम से स्तुति करने के निमित्त वह कर्म सिद्ध होता है ।

सं०--इसमें समाधान पक्ष उठाते हैं ।

भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात् ॥५०॥

प० क्र०--(वा) पूर्व पक्ष के निरूपण करने को आया है (भक्षार्थः) पुरोडाश भक्षणार्थ ही है न कि परिक्रय निमित्त क्योंकि (द्रव्ये) उस पुरोडाश द्रव्य में (समत्वात्) यजमान और ऋत्विजों का समान अधिकार है ।

सं०--पुरोडाश दान रूप दक्षिणा के नाम से की गई स्तुति का समाधान है ।

व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः ॥५१॥

प० क्र०--(दान संस्तुति) पुरोडाश दान की दक्षिणा रूप स्तुति की गई है (व्यादेशात्) वह दान पात्र की समानता है ।

इति मीमांसा दर्शने तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः ।

ओ३म्

अथ तृतीयाध्याये पञ्चमः पादः प्रारभ्यते ।

सं०—उपांशु यज्ञ में ध्रुवा पात्र में बच आज्य द्वारा स्विष्ट कृत कर्मों की अकर्त्तव्यता कथन में पूर्व पक्ष करते है।

आज्याश्च सर्व संयोगात् ॥१॥

प० क्र०—(आज्यात्] ध्रुवा पात्र में शेष आज्य से [च] और स्विष्टकृत करना चाहिये क्योंकि [सर्वसंयोगात्] उक्त कर्म निमित्त सब हवियों के अवदान का विधान मिलता है ।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

कारणाच्च ॥२॥

प० क्र०—[च] तथा [कारणात्] स्विष्टकृत आदि कर्म सब शेष हवियों के संस्कार का कारण होने से भी उस कर्थ की सिद्धि होती है ।

सं०—उक्त अर्थ में हेतु देते हैं।

एकस्मिन्त्समवत्त शब्दात् ॥३॥

प० क्र०—[एकस्मिन्] 'आदित्य चरु' रूप एक हविः [सम वत्त शब्दात्] 'समवद्यति' शब्द का प्रयोग मिलने से भी उस अर्थ की सिद्धि होती है ।

सं०—उक्त अर्थ सिद्धि में अन्य हेतु देते हैं।

आज्ये च दर्शनात् स्विष्टकृदर्थवादस्य ॥४॥

प० क्र०—[च) और (आज्ये) धनीव घृत से भी (स्विष्टकृत) स्विष्टकृत, आदि कर्म करने चाहिये क्योंकि [अर्थवादस्य]

उसका समर्थक अर्थवाद वाक्य (दर्शनात्) मिलता है ।

सं०--पूर्वपक्ष का समर्थन करते हैं ।

अशेषत्वात्तु नैवंस्यात्सर्वादानादशेषता ॥५॥

प० क्र०—' तु ' पूर्वपक्ष के हटाने को आया है (न, एवं, स्यात्) स्विष्ट कृत आदि कर्मों में ध्रौव घृत से अवदान नहीं हो सकता कारण कि (अशेषत्वात्) वह उपांशु याज शेष नहीं (सर्वादानात्) उपांशु याज से ध्रुवा पात्र से जितना घृत ग्रहण करने योग्य था उस सब का हवन हो चुकने पर (अशेषता) उपांशु याज के 'घी' का शेष न रहना सिद्ध है ।

सं०—उपांशु याज के पश्चात् जो ध्रुवा पात्र में घृत है उसे ही उपांशु याज शेष क्यों न मान लें ।

साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात् ॥६॥

प० क्र०—(ध्रुवायां) उपांशु याज के पश्चात् ध्रौव घृत है वह (नस्यात्) उपांशु याज शेष नहीं क्योंकि वह (साधारणयात्) सब कर्म निमित्त है ।

सं०—अब उपांशु यज्ञ के निमित्त ध्रुवा पात्र से जुहु में आज्य लिया गया है उसके शेष से वह कर्म क्यों न कर लिये जावें ।

अक्तत्वाच्च जुह्वां तस्य च होमसंयोगात् ॥७॥

प० क्र०-(जुह्वां) जुहु में जितना घी है (अवतत्वात्) वह सब हवन निमित्त अवदान किया गया है (च) और (तस्य) उस (होम संयोगात्) प्रधान हवन के साथ सम्बन्ध होने पर है ।

सं0—उक्तार्थ में आशंका होती है ।

चमसवदिति चेन् ॥८॥

प० क्र०—(चमसवत्) ऐन्द्र वायव चमस में ग्रहण किये गये सोम का अग्नि के उद्देश्य से हवन जिस प्रकार होता है उसी भांति विष्णु के उद्देश्य से जुहु निमित्त ग्रहीत घृत से भी स्विष्ट-कृत आदि कर्म होने चाहिये (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जावे तो ठीक नहीं।

सं०—आशंका का समाधान करते हैं।

न चोदनाविरोधाद्धविःप्रकल्पनाच्च ॥९॥

प० क्र०—(न) यह कथन ठीक नहीं क्योंकि (चोदना विरोधात्) ऐसा मानने से उसका विधि वाक्य से विरोध होने से (च) और (हविः प्रकल्पनात्) ऐन्द्र वायवं गृह्णाति वाक्य से केवल हवि कल्पना मिलती है। हवन संयोग नहीं।

सं०—स्विष्ट कृत कर्म निमित्तक सब हवियों से अवदान की कथित विधि का समाधान करते हैं।

उत्पन्नाधिकारात्सति सर्ववचनम् ॥१०॥

प० क्र०—(सति) शेष रहने पर (सर्ववचनं) वाक्य प्रवृत्ति से (उत्पन्नाधिकारात्) अधिकार में पाठ होने से।

सं०—अब तृतीय सूत्र में निरूपित हेतु का निराकरण करते हैं।

जातिविशेषात्परम् ॥११॥

प० क्र०—(परं) प्रायणीय नामक इष्टि में आदित्य चरु के पास 'समवध्वति' शब्द का प्रयोग पाया जाता है वह (जाति विशेषात्) मात और घी सम्बन्धी जाति विशेष के अभिप्राय वश है।

सं०—चतुर्थ सूत्र के हेतु का समाधान करते हैं।

अन्त्यमरेकार्थे ॥१२॥

प० क्र०—(अन्त्यं) ध्रौव धृत से स्विष्टकृत आदि कर्मों की कर्त्तव्यता का साधक प्रत्यभि धारण बतलाया गया वह (अरे-कार्थे) ध्रुवा पात्र के रिक्त न होने से है।

सं०—'साकंप्रस्थानीय' संज्ञक याग में 'स्विष्टकृत' आदि कर्मों की अकर्त्तव्यता निरूपण करते हैं।

सांकम्प्रस्थाय्ये स्विष्टकृदिडञ्च तद्व ॥१३॥

प० क्र०—(च) तथा (तद्वत्) उपांशु याज सदृश (साकंप्रस्था-यीये) साकं प्रस्थायीय संज्ञक यज्ञ में (स्विष्टकृदिडं) स्विष्ट कृत और इडा अवादान कर्म नहीं होता।

सं०—सौत्रा मणी यत्र में भी वह कर्म अकर्त्तव्य ही है।

सौत्रामण्यां च ग्रहे षु ॥१४॥

प० क्र०—(च) तथा (सौत्रा मण्यां) सौत्रा मणि यज्ञ में (ग्रहेषु) ग्रहों से भी हवन कहे जाने से उस कर्म की अकर्त्तव्यता है।

सं०—इसका लक्षण निरूपण करते हैं।

तद्वञ्च शेषवचनम् ॥१५॥

प० क्र०—(च) तथा और (शेष वचनात्) "ग्रहों" से होम के विधान करने वाले वाक्य जो शेष हैं वह (तद्वत) साकं प्रस्थायीय के समान उक्त यज्ञ में 'स्विष्टकृत' आदि कर्मों की अकर्त्तव्यता का द्योतक है।

सं०—अब 'सर्वपृष्ठ' संज्ञक इष्टि में स्विष्टकृत आदि कर्मों का एक बार अनुष्ठान करने को निरूपण करते हैं।

द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात्प्रतिकर्म क्रियेरन् ॥१६॥

प० क्र०—(द्रव्यैकत्वे) द्रव्य के एक होने पर भी (कर्मभेदात्) प्रधान कर्म का भेद होने से (प्रतिकर्म) प्रत्येक प्रधान कर्म (क्रियेरन) स्विष्टकृतादि कर्म करने चाहिये।

सं०—उक्त पक्ष का समाधान करते हैं।

अविभागाच्च शेषस्य सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥१७॥

प० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष के हटाने को प्रयोग किया गया है (शेषस्य) हविः त्यागानन्तर बचा शेष भाग वह (अति भागात्) परस्पर कुछ भेद नहीं क्योंकि (सर्वान् प्रति) सब प्रधान कर्मों में। (अवशिष्टत्वात्) पुरोडाश रूप हवि समान है।

सं०—'ऐन्द्रवायव' ग्रह में आहुति देने के पश्चात् शेष सोम का अनेकवार भक्षण को कहते हैं।

ऐन्द्रवायवे तु वचनात्प्रतिकर्म भक्षस्यात् ॥१८॥

प० क्र०—(तु) विलक्षण अर्थ सूचक है (ऐन्द्रवायवे) ऐन्द्र-वायव संज्ञक पात्र में (प्रति कर्म) प्रति आहुति रूप कर्म (भक्षः) भक्षण (स्यात्) होना ठीक है क्योंकि (वचनात्) वाक्य विशेष से होता ही है।

सं०—पुरोडाश के समान सम्पूर्ण शेष सोम-भक्षण निरूपण के लिये पूर्व पक्ष करते हैं।

सोमेऽवचनाद्भक्षो न विद्यते ॥१९॥

प० क्र०—(सोमे) ज्योतिष्टोम में (भक्षः) शेष सोम भक्षण

(न विद्यते) नहीं पाया जाता क्योंकि (अवचनात्) उसकी विधि का कोई वाक्य नहीं।

सं०—उक्त पक्ष का समाधान किया जाता है।

स्याद्वाऽन्यार्थ दर्शनात् ॥२०॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के परिहार के निमित्त प्रयोग है (स्यात्) सोमों का शेष भक्षण होना (अन्यार्थदर्शनात्) तत्सम्बन्धी भ्रमण का विधान होने से।

सं०—'सर्वतः परिहारं' वाक्य में केवल भ्रमण का ही विधान है न कि सोम भक्षण का भी।

वचनानि त्वपूर्वत्वात्तस्माद्यथोपदेशं स्युः ॥२१॥

प० क्र०—'तु' आशंका के दूर करने को प्रयोग किया है (वचनानि) 'सर्वतः परिहारं' वचन भ्रमण आदि विशिष्ट भक्षण बिधायक होने पर (अपूर्वत्वात्) अपूर्व अर्थ है।

सं०—चमस संज्ञक सोम पात्रों में होता आदि ऋत्विक द्वारा किया शेष सोम का भक्षण निरूपण करते हैं।

चमसेषु समाख्यानात्संयोगस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२२॥

प० क्र०—(चमसेषु) चामस नामक सोम पात्रों में (समाख्यानात्) व्याख्या के आधार पर शेष सोम को भक्ष्य कहा गया है (संयोगस्य) उस समाख्या सम्बन्ध का (तन्निमित्तत्वात्) भक्षण के हेतु है।

सं०—'होतृ चमस' आदि दश पात्रों में उद्गातृ चमस नामक

पात्र विशेष में सुब्रह्मण्य' सहित उद्गाता आदि चार ऋत्विज कर्तृ क शेष सोम का भक्षण कथन करते हैं।

उद्गातृचमसमेकः श्रुतिसंयोगात् ॥२३॥

प० क्र०—(उद्गातृ चमस) उद्गातृ चमस नामक पात्र में बचा सोम का (एकः) उद्गाता ही भक्षण करे क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) उस चमस के साथ उद्गातृ शब्द का सम्बन्ध है।

सं०—प्रथम पक्ष का खण्डन करते हैं।

सर्वे वा सर्वसंयोगात् ॥२४॥

प० ०क्र—(वा) पूर्व पक्ष के दूर करने को पढ़ा गया (सर्वे) पात्र में सब ऋत्विजों को शेष सोम भक्षण करना ठीक है (सर्व संयोगात्) सब के वाचक बहु वचन का उस पात्र से सम्बन्ध है।

सं०—दूसरे पूर्व पक्ष के खण्डन कर तीसरे पक्ष को कहते हैं।

स्तोत्रकारिणां वा तत्संयोगाद्बहुश्रुतेः ॥२५॥

प० क्र०—(वा) दूसरे पक्ष के खण्डन में है (स्तोत्रकारिणः) उस पात्र में उद्गाता, 'प्रस्तोता' और प्रति हर्त्ता तीनों को भी भक्षण करना चाहिये इस लिये कि (तत्संयोगात्) उनके सम्बन्ध (बहुत्व श्रुतेः) बहु वचन का प्रयोग है।

सं०--पूर्वपक्ष करते हैं।

सर्वे तु वेदसंयोगात्कारणादेकदेशे स्यात् ॥२६॥

प० क्र०—(तु) तृतीय पक्ष के खण्डन के लिये है। और सिद्धान्त सूचक भी है (सर्वे) यज्ञ में साम छेनियों और (सुब्रह्म-

र्थ) इन चारों को खाना चाहिये (वेद संयोगात्) चारों का साम वेद गान से सम्बन्ध है एवं (एक देशे) उद्‌गाता संज्ञक ऋत्विक में जो उद्‌गातृ शब्द है वह (कारणात्) 'उद्‌गीथ' संज्ञक सामवेद विशेष के गान के लिये (स्यात्) है।

सं०—'परि योजना' नामक पात्र में ग्रावस्तुत संज्ञक ऋत्विक का किया हुआ शेष सोम भक्षण के लिये पूर्व पक्ष स्थापित करते हैं।

ग्रावस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात् ॥२७॥

प० क्र०—(ग्रावास्तुतः) 'ग्रावस्तुत' संज्ञक ऋत्विक का किया (भक्ष) 'हारियोजन' संज्ञक पात्र में अवशिष्ट सोम का भक्षण (न विद्यते) नहीं होता क्योंकि (अनाम्नानात्) उस पात्र में उसके भक्षण का विधान नहीं मिलता।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

हारियोजने वा सर्व संयोगात् ॥२८॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष निराकरणार्थ है (हारियोजने) 'हारियोजन' नामक पात्र में 'ग्रावस्तुत' को भी शेष सोम का भक्षण करना चाहिये क्योंकि (सर्वसंयोगात्) उक्त पात्र भक्षण में उसका सम्बन्ध मिलता है।

सं०—इसमें आशंका करते हैं।

चमसिनां वा सन्निधानात् ॥२९॥

प० क्र०—(वा) आशंकारार्थ प्रयोग है (चमसिनां) वाक्य में सर्व शब्द से चमसियों का ग्रहण है क्योंकि (सन्निधानात्) उसकी सन्निधि में शब्द का प्रयोग मिलता है।

सं०—इस आशंका का समाधान करते हैं।

सर्वेषां तु विधित्वात्तदर्था चमसिश्रुतिः ॥३०॥

प० क्र०—'तु' शब्द आशंका निवारण के लिये है (सर्वेषां) चमसी, अचमसी, सब ऋत्विजों का सर्व शब्द 'सर्व' से ग्रहण है (विधित्वात्) हारियोजन पात्र में सर्वभक्षण का विधान है (चमसि श्रुतिः) पूर्व वाक्य में चमसियों का ग्रहण है [तदर्था] उस पात्र की प्रशंसा के लिये है।

सं०—'वषट्कार' को भक्षण का निमित्त कहते हैं।

वषट् कारच्च भक्षयेत ॥३१॥

प० क्र०—(च) तथा [वषट् कारात्] वषट् कार करने से [भक्षयेत] होता शेष सोम का पूर्व भक्षण करे।

सं०—वषट् कार समान हवन एवं सोमाभिषव दोनों को सोम-भक्षण का निमित्त कथन किया जाता है।

होमाऽभिषवाभ्यां च ॥३२॥

प० क्र०—[च] और (होमाभिषवाभ्यां) होम और अभिषव यह दोनों भी भक्षण निमित्त है।

सं०—वषट् कर्त्ता का वषट्कार के लिये चमसों में स्तेय भक्षण के लिये पूर्व पक्ष करते हैं।

प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे ॥३३॥

प० क्र०—[चमसानां] चमसों के भक्षण में अनिमित्त है क्योंकि [प्रत्यक्षोप देशात्] उनके भक्षण में चमसियां निमित्त कही गई हैं और [अव्यक्तः] वषट्कर्त्ता प्रथम भक्ष यह वाक्य [शेषे]

चमस से अलग ग्रहों के भक्षण में है।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

स्याद्वाकारणभावादनिर्देशश्चमसानां कर्तुस्तद्वचनत्वात् ॥३४॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के खण्डन के लिये आया है (स्यात्) वषट्कारादि भी चमसों के भक्षण में निमित्त है क्योंकि (कारणभावात्) वह कारण रूप कहे गये हैं और (चमसानां) चमस भक्षण में (कर्तुः) चमसियों का (अनिर्देशः) निमित्त रूप से कथन न मिलने से (तद्वचनत्वात्) 'यथाचमसं' वाक्य सब चमसियों के भक्षण का विधान करता है और अन्य का निवर्त्तक भी नहीं है।

सं०—उक्तार्थ में लक्षण करते हैं।

चमसे चान्यदर्शनात् ॥३५॥

प० क्र०—(च) और (अन्य दर्शनात्) चमसाध्वर्यु द्वारा वषट्कर्त्ता के प्रति चमसों का दान मिलने से (चमसे) वषट्कर्त्ता आदि का वषट्कार आदि निमित्तक चमस में सोम भक्षण सिद्ध है।

एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत् ॥३६॥

सं०—अब अधिक भक्षण के अधिकारी होने से प्रथम होता के भक्षण को कहते हैं।

प० क्र०—(एक पात्रे) एक ही पात्र में होता और ऋत्विजों के भक्षण की विधि होने से (अध्वर्युः) अध्वर्यु नामक ऋत्विक

(पूर्वः) प्रथम (भक्षयेत्) खावे क्योंकि (क्रमात्) क्रम पाये जाने से ।

सं०—इसका समाधान करते हैं ।

होता वा मन्त्रवर्णात् ॥३७॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के हटाने को आया है (होता) होता को पूर्व भक्षण कर्त्तव्य है कारण कि (मन्त्र वर्णात्) वेदों में ऐसा ही है ।

सं०—इसमें हेतु देते हैं ।

वचनाच्च ॥३८॥

प० क्र०—(च) और (वचनात्) वाक्य विशेष से भी कथित अर्थ की पुष्टि होती है ।

सं०—इस अर्थ में हेतु यह है कि –

कारणानु पूर्व्याच्च ॥३९॥

प० क्र०—(च) तथा [कारणानु पूर्व्यात्) कारण कर्म से भी उस अर्थ की सिद्धि है ।

सं०—अनुज्ञा पूर्वक सोम भक्षण निरूपण करते हैं ।

वचनादनुज्ञातभक्षणम् ॥४०॥

प० क्र०—[अनुज्ञात भक्षणं] अनुज्ञा प्राप्त सोम का भक्षण करना (वचनात्) वाक्य द्वारा भी मिलता है ।

सं०—वेद मन्त्र द्वारा अनुज्ञा का निरूपण करते हैं ।

तदुपहूत उपह्वयस्वेत्यनेनानुज्ञापयेल्लिङ्गात ॥

प० क्र०—(तत्) सोम भक्षण का (उपहूत उपह्वयस्वेत्यनुज्ञापयेत्) 'उपहूत उपह्वयस्व' मन्त्र से अनुज्ञापन करे क्योंकि (लिंगात्) मन्त्र में अनुज्ञापन की शक्ति है।

सं०—अनुज्ञा के समान प्रति वचन का भी वैदिक वाक्य से होना निरूपण करते हैं।

तत्रार्थात्प्रतिवचनम् ॥४२॥

प० क्र०—[तत्र] वेद मन्त्र से प्रति वचनं उसका उत्तर [अर्थात्] अर्थ से वेद मन्त्र द्वारा होना पाया जाता है।

सं०—एक पात्र में अनेक ऋत्विक कर्तृक भक्षण की अनुज्ञा को कहते हैं।

तदेकपात्राणां समवायात् ॥४३॥

प० क्र०—(तत्) सोम भक्षण अनुज्ञापन [एक पात्राणां] एक में भक्षणीय (समवायात्) इसमें एक चित हो भक्षण कर्त्तव्य है।

सं०—स्वयं यज्ञ कर्त्ता होने से यजमान का सोम भक्षण निरूपण करते हैं।

याज्यापनयेनापनीतो भक्षः प्रवरवत् ॥४४॥

प० क्र०—(प्रवरवत्) वरण समान [याज्यापनये] याज्या अपनयन होने से [भक्षः] भक्षण का [न, अपनीतः] अपनयन नहीं होता।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं

यष्टुर्वा, कारणागमात ॥४५॥

प० क्र०—[वा] पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये आया है [यष्टुः]

याग कर्त्ता यजमान को भक्षणीय [कारण गमात्] याज्या के आगम से भक्षण निमित्त 'वषट कार का भी आगम है।

सं०—प्रवरवत् में दृष्टान्त देते हैं।

प्रवृत्तत्वात्प्रवरस्यानपायः ॥४६॥

प० क्र०—[प्रवरस्य] होता के वरणी होने का [अनपनयः] अपनय नहीं होता क्योंकि [प्रवृत्तत्वात्] वह प्रवृत्त हो चुकता है।

सं०—'फलचमस' को यागार्थ निरूपण करते हैं।

फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥४७॥

प० क्र०—[नैमित्तिकः] क्षत्रिय और वैश्य के लिये बनाया [फलचमसः] फलचमस [भक्षविकारः] भक्षणीय है कारण कि [श्रुति संयोगात्] वाक्य शेष से यही प्रमाणित होता है।

सं०—अब उक्त पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४८॥

प० क्र०—[वा] पूर्वपक्ष के दूर करने को प्रयोग किया गया है। [इज्याविकारः] फलचमस याग निमित्त है क्योंकि [संस्कारस्य] उसका भक्षण [तदर्थत्वात्] याग के लिये होने से ही बन सकता है।

सं०— इसमें हेतु देते हैं।

होमात् ॥४९॥

प० क्र०—(होमात्) होम का अनुवाद पाने से वह सिद्धार्थ नहीं।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

चमसैश्च तुल्यकालत्वात् ॥५०॥

प० क्र०—(च) तथा (चमसैः) चमसों द्वारा (तुल्य काल-त्वात्) फल चमस के उठाने का एक ही समय होने से भी वह प्रमाणित होता है।

सं०—उक्तार्थ में लक्षण कथन करते हैं।

लिंगदर्शनाच्च ॥५१॥

प० क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी वह अर्थ सिद्ध होता है।

सं०—'दशपेय' संज्ञक यज्ञ में सोम भक्षणार्थ यजमान चमस के प्रति लिये "दश ब्राह्मणों का चलकर जाना" कहते हैं।

अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् ॥५२॥

प० क्र०—(अनुप्रसर्पिषु) यजमान चमस प्रति भक्षण के लिये दश क्षत्रिय होने चाहिये (सामान्यात्) ऐसा होने से यजमान के से साथ एक जातित्व की प्राप्ति है।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् ॥५३॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये आया है (ब्रा-ह्मणा) यजमान चमस के लिये अनुप्रसर्पणा कर्त्ता ब्राह्मण हों न कि क्षत्रिय क्योंकि (तुल्य शब्द त्वात्) उसका एक ब्राह्मण शब्द

से उपन्यास किये जाने से।

इति मीमांसा दर्शने तृतीयाध्याये पञ्चमः पादः समाप्तः ॥

अथ तृतीयाध्याये षष्ठः पादः प्रारभ्यते ।

सं०—सुवादि पदार्थ खैर इत्यादि लकड़ी के होने योग्य हैं अतः पूर्वपक्ष करते हैं।

सर्वार्थमप्रकरणात् ॥१॥

प० क्र०—(सर्वार्थम) प्रकृति तथा विकृती दोनों यागों में खैर की लकड़ी के स्रुवादि पदार्थ बनाने का विधान है (अप्रकरणात्) यह किसी पाठ में नहीं पढ़ा गया है।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात् ॥२॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष निराकरणार्थ आया है (प्रकृतौ) दर्श पूर्ण मास यागों में (द्विरुक्तत्वात्) द्विरुक्ति प्राप्ति होने से।

सं०—पुनः पूर्वपक्ष करते हैं।

तद्वर्जं तु वचनप्राप्ते ॥३॥

प० क्र०—(तु) पूर्वपक्ष का सूचित करता है (तद्वर्जं) अप्रकरण पठित को छोड़ कर (वचन प्राप्ते) जो विधि पूर्वक प्रकृति याग में होता है उसमें प्रेरक वाक्य की प्रवृत्ति से भी।

सं०—उक्त पूर्वपक्ष में सिद्धान्ती की आशंका यह है।

दर्शनादिति चेत् ॥४॥

प० क्र०-(दर्शनात्) प्रकृति में विकृति के धर्म योग से सर्वत्र प्रेरक वाक्य में प्रवृत्ति प्रमाणित होती है (चेत्) यदि (इति) कहा जावे तो असमीचीन है।

सं०— सिद्धान्त वादी की आशंका का पूर्व पक्षी समाधान करता है।

न चोदनैकार्थ्यात् ॥५॥

प० क्र०— (न) यह काम ठीक नहीं है (चोदनै कार्यात्) प्रकृति और विकृति दोनों यागों में एक सी ही विधि होने से।

सं०—सिद्धान्ती की पुनः आशंका।

उत्पत्तिरिति चेत् ॥६॥

प० क्र०- (उत्पत्तिः) विधि वाक्य पूर्वक सम्पूर्ण धर्मों का प्रकृति याग से साक्षात् स्वाभाविक सम्बन्ध होने से (चेत्) यदि (इति) माना जावे तो असमीचीन है।

सं०—इस पूर्व पक्ष का यह समाधान है।

न तुल्यत्वात् ॥७॥

प० क्र०—(न) यह कथन ठीक नहीं (तुल्यवत्) वह धर्म प्रकृति और विकृति दोनों में समान रूप से विहित है।

सं०—इस पक्ष का सिद्धान्ती द्वारा समाधान।

चोदनार्थकार्त्स्न्यात्तु मुख्यविप्रतिषेधात्प्रकृत्यर्थः ॥८॥

प० क्र०-(तु) पूर्व पक्ष की हानि के निमित्त है (प्रकृत्यर्थः)

प्रकृति याग के लिये विधान न कि विकृति के निमित्त होने से (चोदना कात्स्न्यात्) प्रेरक वाक्य से सर्व धर्म मिलने से (मुख्य विप्रति षेधात्) दोनों के विधायक हैं इसमें दोष आता है।

सं०— विकृति याग में सामधेनियों की सप्तदश संख्या का निरूपण।

प्रकरणविशेषात्तु विकृतौ विरोधि स्यात् ॥९॥

प० क्र०—(तु) शब्द सिद्धान्त सूचना के लिये है (विरोधि) सामधेनियों की पञ्चदश संख्या की प्रति द्वन्दी सप्तदश संख्या (विकृतौ) विकृत यज्ञ में (स्यात्) विहित है न कि प्रकृति याग में (प्रकरण विशेषात्) उस में पञ्च दश संख्या आती है।

सं०—सामधेनियों के सप्तदश नैमित्तिक सप्तदश नैमित्तक प्रकृति विधान निरूपण करते हैं।

नैमित्तिक तु प्रकृतौ तद्विकारः संयोगाविशेषात् ॥१०॥

प० क्र०—(तु) सिद्धान्त सूचनार्थ प्रयोग हुआ है। (नैमित्तिकं) वैश्य निमित्तक विहित सप्तदश सामधेनियों का (प्रकृतौ) प्रकृति याग में होने से वह सप्तदश सामधेनियें (संयोग विशेषात्) वाक्य विशेष से विहित होने के कारण [तद्विकारः] पूर्व विहित पंच दश सामधेनियों का बाधक है।

सं०—अब अग्न्याधान को 'पवमान' आदि इष्टियों का अंग न होना प्रमाणित करते हैं।

इष्ट्यर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात् ॥११॥

प० क्र०—(अग्नाधेयं) अग्नाधान (इष्ट्यर्थं) पवमान आदि इष्टियों का अङ्ग है क्योंकि (प्रकरणात्) उनके प्रकरण से उसका विधान होने से।

सं०—अब पूर्वपक्ष करते हैं।

न वा तासां तदर्थत्वात् ॥१२॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ प्रयोग है (न) कहना ठीक नहीं क्योंकि (तासां) वे इष्टियां (तदर्थत्वात्) आहव-नीय आदि अग्नियों के संस्कार के लिये विधान की गई हैं।

सं०—अब इसमें लक्षण प्रमाणित करते हैं।

लिंगदर्शनाच्च ॥१३॥

प० क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) उसके लक्षण मिलने से भी अर्थ की प्रामाणिकता है।

सं०— अग्न्याधान को विकृति तथा प्रकृति सब वैदिक कर्मों का पूर्वपक्ष करते हैं।

तत्प्रकृत्यर्थं यथान्येऽनारभ्यमादाः ॥१४॥

प० क्र०—(यथा) जिस प्रकार (अनारभ्यवादाः) अप्रकरण पठित आदि वाक्य विहित बताये गये हैं (अन्ये) खादिरत्वादि धर्म प्रकृति याग के लिये हैं उसी प्रकार (तत्) अग्न्याधान भी (प्रकृत्यर्थ) प्रकृति याग निमित्त है।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

समार्थं वाऽऽधानस्य स्वकालत्वात् ॥१५॥

प० क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के खण्डन के लिये आया है

(सर्वार्थं) अग्न्याधान प्रकृति विकृति दोनों कर्मों के निमित्त है (आधानस्य स्वकालत्वात्) क्योंकि उसका आधान समय नियत है।

सं०—पावमान इष्टि प्रसिद्ध अग्नि में कर्त्तव्यता निरूपण करते हैं।

तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत्स्यात् ।।१६।।

प० क०—(प्रयाजवत्) जिस प्रकार प्रयाज नामक होम (प्रकृतितः) 'दर्शपूर्णमास' यज्ञ से होने वाले 'आहवनीय' आदि सिद्ध अग्नि में होते हैं उसी भांति (तासां) 'पवमान', इष्टियां भी (अग्निः) उस सिद्धाग्नि में ही (स्यात्) होनी समीचीन हैं।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

न वा तासां तदर्थत्वात् ।।१७।।

प० क०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के दूर करने को प्रयोग किया गया है (न) वह वक्तव्य ठीक नहीं क्योंकि (तासां) 'पवमान' इष्टियां (तदर्थत्वात्) अग्नि संस्कारार्थ विहित बतलाई हैं।

सं०—'उपाकरण' आदि को अग्नीषोमीय पशु का धर्म प्रमाणित करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं।

तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् ।।१८।।

प० क०—(पशुविधिः) पशु-उद्देश्य से विहित उपाकरण आदि विधियां अथवा धर्म (सर्वेषां) सब अग्निषोमीय पशुओं के (तुल्यः) सदृश हैं क्योंकि (प्रकरणाविशेषात्) प्रकरण से सब पशुओं से समान सम्बन्ध मिलता है।

सं०— पुनः पूर्व पक्ष करते हैं।

स्थानाच्च पूर्वस्य ।।१९।

प० क्र०—(च) एव 'तु' शब्दार्थ में आने से पूर्वपक्ष का द्योतन करता है (पूर्वस्य) वे धर्म अग्नीषोमीय के हैं क्योंकि (स्थानात्) उनकी सन्निधि में पाठ होने से ।

सं०—तृतीय पूर्वपक्ष किया जाता है ।

श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक्श्रुतिर्गुणार्था ॥२०॥

प० क०—'तु' पूर्वपक्ष की सूचना दी है (श्वः) वह धर्म सवनीय पशु के हैं (एकेषां) शाखान्तर में उनका सम्बन्ध होने से (तत्र) उन धर्मों का (प्राक् श्रुतिः) जो सौत्य दिवस से पूर्व प्रथम औपवसथ्य दिवस में श्रवण है (गुणार्था) वह गौण है ।

सं०—इस अर्थ में आशंका करते हैं ।

तेनोत्कृष्टस्य कालविधिरिति चेत् ॥२१॥

प० क्र०—(तेन) आश्विन वाक्य में (उत्कृष्टस्य) उत्तर कृष्य सवनीय पशु का (कालविधिः) अनुष्ठान विहित है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कथन समीचीन नहीं ।

सं०—आशंका का परिहार करते हैं ।

नैकदेशत्वात् ॥२२॥

प० क्र०—(न) पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं कारण कि (एकदेशत्वात्) एकदेशीय विधान से समुदाय को विहित बतलाया है ।

सं०—पुनः आशंका करते हैं ।

अर्थेनेति चेत् । २३।

प० क्र०—(अर्थेन) सब का अर्थ से ग्रहण होने से न कि साक्षात् (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं ।

सं०—आशंका का परिहार करते हैं ।

न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥२४।

प० क०—(न) वह कथन समीचीन नहीं कारण कि (श्रुतिविप्रतिषेधात्) ऐसा मानना साक्षात् श्रुति का विरोधक है।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥२५॥

प० क०—'तु' पूर्वपक्ष का निराकरण करता है। (पूर्वस्य) वे धर्म अग्निषोमीय पशु के विधान किये हैं क्योंकि (स्थानात्) सन्निधि प्रमाण ऐसा ही है और (संस्कारस्य) संस्कार मात्र को (तदर्थत्वात्) अग्निषोमीय पशु के लिये होने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

सं०—उक्तार्थ में लिङ्ग कहते हैं।

लिंगदर्शनाच्च ॥२६॥

प० क०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) प्रमाण चिन्ह से भी उक्त अर्थ की सिद्धि है।

सं—'अश्विनं' और "पुरोडाशेन" उभय वाक्य अर्थवाद हैं काल विधायक के नहीं इसका उत्तर—

अचोदना गुणार्थेन ॥२७॥

प० क०—(गुणार्थेन) दोनों वाक्य को (अर्थवादत्व) होने से (अचोदना) काल लाभ नहीं कहा जा सकता।

स—'शाखा-हरण' को सायं प्रातः दोनों 'दोहों' का धर्म बतलाते हैं।

दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं श्रुतं स्यात् ॥२८॥

प० क०—(श्रुत) दर्शपौर्णमास याग में सुने गये 'शाखा-

हरण' आदि (दोह्योः) सायं प्रातः दोनों समय दूध दुहने के (असंयुक्तं) धर्म नहीं हैं क्योंकि (कालभेदात्) उनके काल का भेद है।

सं०—उक्त पक्ष का समाधान यह है।

प्रकरणाविभागाद्वा तत्संयुक्तस्य कालशास्त्रम् ॥२९॥

प० क०—(वा) पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये आया है (कालशास्त्र) दूध दुहने का विधान करने वाला शास्त्र (तत्संयुक्तस्य) सायं प्रातः दोनों समय का विधायक है न कि सायं काल दोहन का क्योंकि (प्रकरणाविभागात्) प्रकरण से दोनों का सम्बन्ध है।

तद्वत्सवनान्तरे ग्रहाम्नानम् ॥३०॥

प० क०—(तद्वत्) दूध दुहने के धर्म समान ही (ग्रहाम्नानम्) ग्रह धर्मानुष्ठान (सवनान्तरे) प्रातः सवन के पश्चात् मध्यन्दिन तथा सायं सवन में होता है।

स०—'रशनावेष्टन' (रस्सी लपेटना) आदि धर्मों का अग्नीषोमीय आदि तीनों पशुओं में अनुष्ठान कहते हैं।

रशना च लिंगदर्शनात् ॥३१॥

प० क०—(च) और (रशना) रशनावेष्टनादि भी अग्नीषोमीय आदि तीनों पशुओं के धर्म हैं क्योंकि (लिंगदर्शनात्) लक्षणों से ऐसा ही प्रतीत होता है।

स०—'सम्मार्जन' का 'अंशु' तथा 'अदाभ्य' नामक ग्रहों का धर्म बतलाने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं।

आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैः सन्निधानात् ॥३२॥

प० क०—(आरात्) प्रकरण से [illegible] (शिष्ट) कथन होने से

'अंशु' और 'अदाभ्य' उभय पात्रों का (इतरैः) ऐन्द्रवायवादि ग्रह धर्मों के साथ (असंयुक्तं) सम्बन्ध नहीं क्योंकि (असन्निधानात्) ग्रह धर्मों का उसके समीप में विधान नहीं मिलता।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३३॥

प० क०—(वा) पूर्व पक्ष के हटाने को है। (संयुक्तं) संमार्जन आदि धर्मों का दोनों ग्रहों के साथ सम्बन्ध है क्योंकि (तदर्थत्वात्) वह ग्रह मात्र के लिये विहित है और (शेषस्य) ग्रह धर्मों का (तन्निमित्तत्वात्) ग्रह मात्रोद्देश्य से विधान योग्य है।

सं०—उक्तार्थ में हेतु देते हैं।

निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत ॥३४॥

प० क०—(निर्देशात्) उक्त विहित वाक्यों द्वारा भी (व्यवतिष्ठेत्) उक्त धर्मों का ग्रहमात्र से सम्बन्ध मिलता है।

सं०—अखण्डत्वादि' वाक्य को अप्रकरण पठित 'चित्रिणी' आदि इष्टिकाओं (ईटों) का धर्म बतलाते हैं।

अग्न्यंगमप्रकरणे तद्वत् ॥३५॥

प० क०—(तद्वत्) अप्रकरण पठित 'अंशु' और 'अदाभ्य' के सम्मार्जन धर्म होते हैं उसी प्रकार (अप्रकरणे) अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि ईंटों के भी (अग्न्यङ्ग) अग्निचयन प्रकरण में पढ़े गये अखण्डत्वादि धर्म समझने चाहियें।

सं०—'अभिषव' आदि को सोमपात्र का धर्म कहते हैं।

नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमानविधानं स्यात् ॥३६॥

प० क०—(नैमित्तिकं) फलचमस में (असमानविधानं)

सोम समान अभिषव आदि धर्मों का विधान नहीं (स्यात्) हो सकता क्योंकि (अतुल्यत्वात्) वह सोम के समान नहीं है।

सं—'नीवार' आदि प्रतिनिधि द्रव्यों में जो आदि मुख्य द्रव्यों का 'अवघात' आदि धर्मों का अनुष्ठान बतलाते हैं।

प्रतिनिधिश्च तद्वत् ॥३७॥

प० क्र०—(च) शब्द 'तु' स्थानीय होने से पूर्व पक्ष का द्योतक है (तद्वत्) नैमित्तिक 'फलचमस' अभिषव आदि धर्मवान् नहीं उसी प्रकार (प्रतिनिधिः) नीवार आदि प्रतिनिधि द्रव्य भी प्रोक्षण आदि धर्मवान् नहीं।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

तद्वत् प्रयोजनैकत्वात् ॥३८॥

प० क्र०—(तद्वत्) 'व्रीहि' आदि के समान नीवारादि के भी अवघात धर्म होते हैं क्योंकि (प्रयोजनैकत्वात्) दोनों का याग सिद्धि तात्पर्य समान ही है।

सं०—इस अर्थ में हेतु देते हैं।

अर्थलक्षणत्वाच्च ॥३९॥

प० क्र०—(च) और (अर्थलक्षणत्वात्) अर्थापत्ति प्रमाण से भी उक्त अर्थ की प्रामाणिकता है।

सं०—प्रतिनिधि बतलाने वाली श्रुतियों का नियम बतलाते हैं।

नियमार्था गुणश्रुतिः ॥४०॥

प० क्र०—(गुणश्रुतिः) प्रतिनिधि की विधान वाली श्रुतियां (नियमार्था) उक्त नियम के निमित्त हैं।

सं०—अब 'दीक्षणीय' आदि को अग्निष्टोम याग का अंग बतलाते हैं।

संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणाविशेषात् ॥४१॥

प० क्र०—'तु' पूर्वपक्ष का सूचक है। (संस्था:) सात यज्ञों की (समानविधानाः) दीक्षणीय आदि इष्टियां अंग हैं क्योंकि (प्रकरणाविशेषात्) सब का एक ही प्रकरण है।

सं०—उक्त अर्थ में युक्ति देते हैं।

व्यपदेशश्च तुल्यवत् ।४२॥

प० क्र०—(च) और (तुल्यवत्) समान रूप से (व्यपदेशः) सब संस्थाओं का उक्त यज्ञ के प्रकरण में कथन है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

विकारास्तु कामसंयोगे नित्यस्य समत्वात् ॥४३॥

प० क्र०—'तु' पूर्वपक्ष के दूर करने को आया है। (विकाराः) उक्थ्य आदि तीनों संस्थायें अग्निष्टोम का विकार हैं क्योंकि (कामसंयोगे) पशु आदि फल की कामना के सम्बन्ध से विधान मिलता है अतः (नित्यस्य) नित्य अग्निष्टोम संस्था के (समत्वात्) एक बराबर होने पर भी उनमें दीक्षणीय आदि का अंग रूप से विधान नहीं किया गया ऐसा समझना चाहिये।

सं०—अब "व्यपदेशश्च तुल्यवत्" सूत्र में कथित युक्ति का समाधान किया जाता है।

अपि वा द्विरुक्तत्वात्प्रकृतेर्भविष्यन्तीति ॥४४॥

प० क्र०—(अपि वा) अथवा (द्विरुक्तत्वात्) द्विरुक्त होने से उक्त इष्टियां (प्रकृतेः) प्रकृति ज्योतिष्टोम की ही अंग (भविष्यन्ति इति) होंगी।

वचनात्तु समुच्चयः ॥४५॥

प० क्र०—'तु' व्यावृत्ति निमित्त प्रयोग है। (वचनात्) "अत्यग्निष्टोम" आदि वचनों से (समुच्चयः) अग्निष्टोम एवं उक्थ्य आदि का परस्पर प्रकृतिविकार भाव रूप संकलन मिलता है उनका समान विधान नहीं पाया जाता।

सं०—उक्तार्थ में युक्ति देते हैं।

प्रतिषेधाच्च पूर्वलिंगानाम् ॥४६॥

प० क्र०—(च) और (पूर्वलिंगानाम्) पूर्व करणीय हवनों का (प्रतिषेधात्) 'उक्थ्य' आदि में निषेध मिलने से भी वह अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता।

सं०—ज्योतिष्टोम याग एक है उसकी सात संस्था किस प्रकार हो सकती हैं।

गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः ॥४७॥

प० क्र०—(गुणविशेषात्) स्तोत्रादि रूप गुण विशेष के भेद से (एकस्य) एक ही ज्योतिष्टोम का (व्यपदेशः) सात संस्थाओं द्वारा वर्णन है।

इति मीमांसादर्शने तृतीयाध्याये षष्ठः पादः समाप्तः।





अथ तृतीयाध्याये सप्तमः पादः प्रारभ्यते ।

सं०—वेदि और 'बर्हि' इत्यादि एवं उनके धर्मों को अंग सहित दर्शपर्णमास यज्ञ के धर्म बतलाने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं ।

प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य ॥१॥

प० क्र०—(प्रधानस्य) 'वेदि' आदि प्रधान यज्ञ के धर्म हैं न कि अंगों के, कारण कि (प्रकरणविशेषात्) प्रकरण की विशेषता से (असंयुक्तम्) उनका अंगों के साथ सम्बन्ध नहीं है ।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं ।

सर्वेषां वा शेषस्यातत्प्रयुक्तत्वात् ॥२॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये आया है (सर्वेषां) वेदि आदिक प्रधान तथा अंग सब के धर्म हैं कारण कि (शेषस्य) धर्म-धर्मि भाव का (अतत्प्रयुक्तत्वात्) नियम बांधने वाला वाक्य है प्रकरण नहीं ।

सं०—अब इस अर्थ में शंका करते हैं ।

आरादपीति चेत् ॥३।

प० क्र०—(आरात् अपि) प्रधान यज्ञके साथ पढ़े जाने से 'पिण्ड पितृ यज्ञ' के भी 'वेदि' आदि धर्म होंगे (चेत्) यदि (इति) ऐसा

कहा जा सके तो यह कथन उपयुक्त नहीं।

सं०—उक्त आशंका का निराकरण करते हैं।

न तद्वाक्यं हि तदर्थत्वात् ॥४॥

प० क्र०—(न) ऐसा कथन ठीक नहीं (हि) क्योंकि (तद्वाक्यं) वह वाक्य (तदर्थत्वात्) प्रधान एवं अंग दोनों के लिये 'वेदि' आदि का विधान करता है।

सं०—उक्तार्थ में लक्षण कहते हैं।

लिंगदर्शनाच्च ॥५॥

प० क्र०—(च) तथा (लिंगदर्शनात्) चिन्ह मिलने से भी उक्तार्थ प्रमाणित होता है।

सं०—यजमान द्वारा 'वपन' आदि संस्कारों को प्रधान यज्ञ का अंग कहते हैं।

फलसंयोगात्तु स्वामियुक्तं प्रधानस्य ॥६॥

प० क्र०—(तु) पूर्वाधिकरण से विभिन्नता सूचक है (स्वामियुक्तं) यजमान सम्बन्धी संस्कार कर्म (प्रधानस्य) प्रधान यज्ञ का अंग है क्योंकि (फलसंयोगात्) उनका फल के साथ सम्बन्ध है।

सं०—'सौमिकी' नामक वेदि को प्रधान एवं गौण दोनों कर्मों का अंग कहते हैं।

चिकीर्षया च संयोगात् ॥७॥

प० क्र०—(च) तथा सौमिकी संज्ञक वेदि प्रधान कर्मांग है कारण कि (चिकीर्षया) कर्म की इच्छा द्वारा (संयोगात्) उसका उसी से सम्बन्ध है।

सं०—'अभिमर्शन' प्रधान एवं अंग दोनों प्रकरण के कर्मों का अंग है अतः पूर्वपक्ष करते हैं।

तथाऽभिधानेन ॥८॥

प० क्र०—(तथा) जिस भांति 'सौमिकी' प्रधान कर्मांग है उसी भांति 'अभिमर्शन' भी प्रधान आहुति का अंग है क्योंकि (अभिधानेन) उसका कथन मिलता है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात्सर्वचिकीर्षा स्यात् ॥९॥

प० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष का हटाने वाला है। (फलश्रुतिः) फल साधना के सुने जाने से (तद्युक्ते) अंग युक्त प्रधान में पाये जाने से (तस्मात्) अतएव (सर्वचिकीर्षा) 'इयति शक्ष्यामहे' आदि अंग एवं प्रधान सब की इच्छा (स्यात्) है न कि प्रधान की ही।

सं०—इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

गुणाऽभिधानात्सर्वार्थमभिधानम् ॥१०॥

प० क्र०—(अभिधानम्) 'चतुर्होत्रा' आदि वाक्य में जो अभिमर्शन का विधान पाया जाता है वह (सर्वार्थ) अंग-प्रधान दोनों के निमित्त है क्योंकि (गुणाभिधानात्) उनमें पौर्णमासी अमावस्या पद से काल का प्रवचन मिलता है न कि आहुति का।

सं०— दीक्षा तथा दक्षिणा को प्रधान कर्म का अंग कहा है।

दीक्षादक्षिणं तु वचनात्प्रधानस्य ॥११॥

प० क्र०—'तु' पूर्वाधिकरण से विभिन्नता सूचक प्रयोग है। (दीक्षादक्षिणं) दीक्षा तथा दक्षिणा (प्रधानस्य) प्रधान कर्म का अंग है कारण कि (वचनात्)वाक्य से इसी प्रकार प्रतीत होता है।

सं०—इसमें युक्ति यह है।

निवृत्तिदर्शनाच्च ॥१२॥

प० क०—(च) और (निवृत्तिदर्शनात) निरूढ़ पशु बन्ध संज्ञक यज्ञ में दीक्षा की निवृत्ति से यह अर्थ सिद्ध होता है।

सं०—'वेदि' तथा यूप की अंगता अप्रमाणित करने को पूर्वपक्ष करते हैं।

तथा यूपस्य वेदिः ॥१३॥

प० क०—(तथा) वाक्य विशेष से दीक्षा और दक्षिणा प्रधान कर्म का अंग है उसी प्रकार (वेदिः) वेदि भी यूप का अंग है।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

देशमात्रं वा शिष्टेनैकवाक्यत्वात् ॥१४॥

प० क०—(वा) पूर्व पक्ष के हटाने को आया है (देशमात्रं) अर्धमन्तर्वेदि शब्द देश मात्र का उपलक्षण है कारण कि (अशिष्टेन) उसकी अर्द्ध बहिर्वेदि के साथ (एकवाक्यत्वात्) एकवाक्यता है।

सं०—हविर्धान संज्ञक छकड़े (शकट) को सामधेनियों की अनङ्गता के लिये पूर्वपक्ष करते हैं।

सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति हविर्द्धानयोर्वचनात्सामिधेनीनाम् ।१५॥

प० क०—(हविर्द्धानयोः) हविर्द्धान शकट के भीतर जहां सोम कूटा जाता है वह (सामिधेनीनां) सामिधेनियों का अंग है क्योंकि (सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति) इस (वचनात्) वाक्य से विदित होता है।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं ।

देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म सोमस्य ॥१६।

प० क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के दूर करने को आया है (देश मात्रं) वह शकट अपने से सम्बन्धि देश विशेष का उपलक्षण है (हि) क्योंकि वह (सोमस्य) ज्योतिष्टोम याग का (अर्थकर्म) अंग (प्रत्यक्षं)स्पष्ट है।

सं०—इस अर्थ में समर्थक हेतु देते हैं ।

समाख्यानं च तद्वत् ॥१७॥

प० क्र०—(च) और (तद्वत्) जैसे शकटसंज्ञक पद देश विशेष का उपलक्षण है। उसी भांति (समाख्यानं) हविर्धान का अंग कथन करना भी उस अर्थ का साधक है।

सं०—ऋत्विजों द्वारा अंग कर्मों का अनुष्ठान बतलाने के लिये प्रधान कर्म अनुष्ठान की यजमान-कर्त्तव्यता के लिये कहते हैं ।

शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात् ॥१८॥

प० क्र०—(शास्त्रफलं) शास्त्र विहित अग्निहोत्रादि कर्मों के फल (प्रयोक्तरि) अनुष्ठान कर्त्ता में होता है क्योंकि (तल्लक्षणत्वात्) उसका फल उसी को मिलता है (तस्मात्) अतः (प्रयोगे) उनके करने में (स्वयं) आप ही (स्यात्) अनुष्ठान करना चाहिये ।

सं०—अन्य भी अंग कर्मों का अनुष्ठान होता है कहते हुए पूर्वपक्ष करते हैं ।

उत्सर्गे तु प्रधानत्वाच्छेषकारी प्रधानस्य तस्मादन्यः स्वयं वा स्यात् ॥१९॥

प० क०---(तु) पूर्वपक्ष सूचनार्थ आया है (उत्सर्गे) दक्षिणा में (प्रधानस्य) यजमान का (प्रधानत्वात्) मुख्यत्व अपेक्षित है सर्वत्र नहीं अतः (शेषकारी) दक्षिणा के सिवाय यावत् अंगों का अनुष्ठान करने वाला (तस्मात्) यजमान से (अन्यः) भिन्न ऋत्विज् (वा) अथवा (स्वयं) आप ही (स्यात्) होता है।

सं०---पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

अन्यो वा स्यात्परिक्रयाम्नानाद्विप्रतिषेधात् प्रत्यगात्मनि ॥२०॥

प० क०---'वा' पूर्वपक्ष के हटाने को प्रयोग किया है (अन्यः) यजमान के सिवाय ऋत्विज् भी (स्यात्) शेषाङ्ग कर्मों के अनुष्ठान करने वाले होने चाहियें क्योंकि (परिक्रयाम्नानात्) उन कर्मों के अनुष्ठान के लिये ही ऋत्विजों का परिक्रय कहा गया है वह (प्रत्यगात्मनि) अपने आप में (विप्रतिषेधात्) विरोध होने से नहीं हो सकता था।

सं०---यज्ञ में कितने ऋत्विज् होने चाहियें यह कहते हैं।

तत्रार्थात्कर्तृपरिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात् ॥२१॥

प० क०---(अनियमः) ऋत्विक्संख्या का नियम नहीं क्योंकि (अविशेषात्) उनका विधान करने वाला वाक्य नहीं है अतएव (तत्र) अंग कर्मों के अनुष्ठान में (कर्तृपरिमाणं) उनकी संख्या (अर्थात्) कर्मानुसार (स्यात्) होनी चाहिये।

सं०---पूर्वपक्ष का समाधान यह है।

अपिवा श्रुतिभेदात्प्रतिनामधेयं स्युः ॥२१॥

प० क०---(अपिवा) यह शब्द पूर्वपक्ष का खण्डन करता है।

(र्युः) ज्योतिष्टोम यज्ञ में १७ ऋत्विग् होते हैं क्योंकि (प्रतिनामधेयं) प्रत्येक कर्त्तव्य कर्मानुसार हैं। (श्रुतिभेदात्) उनके भिन्न २ नाम हैं।

सं०—उक्तार्थ में शंका करते हैं।

एकस्य कर्मभेदादिति चेत् ॥२३॥

प० क०—(कर्मभेदात्) क्रिया भेद द्वारा (एकस्य) एक ही ऋत्विक् के अध्वर्यु आदि नाम हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहें तो ठीक नहीं।

सं० —इस शंका का समाधान करते हैं।

नोत्पत्तौ हि ॥२४॥

प० क०—(न) उक्त वाक्य ठीक नहीं (हि) निश्चयपूर्वक (उत्पत्तौ) वरण विधायक वाक्य में 'अध्वर्यु' आदि १७ ऋत्विजों का वरण किया जाता है।

सं—कर्मभेद से चमसाध्वर्यु नामक सहकारी ऋत्विजों के भेद बतलाते हैं।

चमसाध्वर्यवश्च तैर्व्यपदेशात् ॥२५॥

प० क०—(च) तथा (चमसाध्वर्यवः) चमसाध्वर्यु आदि १७ ऋत्विज् भिन्न २ हैं (तैः) उन १७ के साथ (व्यपदेशात्) इनके वरण का पृथक् कथन मिलता है।

सं०—अब 'चमसाध्वर्यु'-संख्या नियत करने को पूर्वपक्ष करते हैं।

उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः ॥२६॥

प० क०—'तु' पूर्वपक्ष का सूचक है। चमसाध्वर्यु अनेक होते

हैं (उत्पत्ती) वरण वाक्य से सिद्ध है (बहुश्रुतेः) क्योंकि बहुवचन से कहे गये हैं।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान यह है।

दशत्वं लिंगदर्शनात् ॥२७॥

प० क०—(दशत्वं) चमसाध्वर्यु दश हैं क्योंकि (लिंगदर्शनात्) चिन्ह उनके ऐसे हैं कि दश ही होने चाहियें।

सं०—अब 'शमिता' संज्ञक ऋत्विक् का अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न न होना कथन करते हैं।

शमिता च शब्दभेदात् ॥२८॥

प० क०—(च) शब्द 'तु' शब्द के स्थानीय प्रयोग होने से पर्व पक्ष को बतलाता है। (शमिता) शमितासंज्ञक ऋत्विक् अध्वर्यु आदि १७ ऋत्विजों से भिन्न है क्योंकि (शब्दभेदात्) उनसे नाम का भेद है।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

प्रकरणाद्वोत्पत्त्यसंयोगात् ।२९॥

प० क०—'वा' शब्द पूर्व पक्ष परिहारार्थ प्रयोग हुआ है (प्रकरणात्) प्रकरण में पढ़े हुए अध्वर्यु के प्रस्थाता आदि सहकारी पुरुषों से शमिता पृथक् नहीं क्योंकि (उत्पत्त्यसंयोगात्) उसका भिन्न वरण वाक्य नहीं मिलता।

सं०—अब उपगाता अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न नहीं, इसको कहते हैं।

उपगाश्च लिंगदर्शनात् ॥३०॥

प० क्र०—(च) तथा (उपगाः) उपगाता भी अध्वर्यु के भीतर ही है क्योंकि (लिंगदर्शनात्) उसके एक होने का चिन्ह मिलता है।

सं०—सोम बेचने वाले को उन ऋत्विजों से भिन्न बतलाते हैं।

विक्रयी त्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ॥३१॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व से विलक्षणता सूचक है (विक्रयी) सोम बेचने वाला (अन्यः) अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से पृथक् है कारण कि (कर्मणः) उसके कर्म सोम बेचना आदि का (अचोदितत्वात्) विधान नहीं मिलता।

सं०—यज्ञ में कर्म करने वाले पुरुषों में ऋत्विक् किसे कहते हैं इसको बतलाते हैं।

कर्मकार्यात्सर्वेषामृत्विक्त्वमविशेषात् ॥३२॥

प० क्र०—(सर्वेषां) यज्ञ में जितने कर्मकर्त्ता हैं सब (ऋत्विक्त्वं) ऋत्विक् कहे जाते हैं क्योंकि (अविशेषात्) एक रूप से (कर्मकार्यात्) विधानकृत कर्मों के करने वाले हैं।

सं०—अब इस पक्ष का समाधान करते हैं।

न वा परिसंख्यानात् ॥३३॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के निवृत्यर्थ आया है (न) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि (परिसंख्यानात्) ऋत्विजों की सत्रह संख्या सुनी जाती है।

सं०—इस अर्थ पर शंका करते हैं।

पक्षेणेति चेत् ॥३४॥

प० क्र०—(पक्षेण) 'सौम्यस्याध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदशर्त्विजः' इस वाक्य में १७ का ग्रहण एक देश के प्रयोजन के लिये हुआ है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जावे तो ठीक नहीं।

सं०—आशंका का समाधान करते हैं।

न सर्वेषामनधिकारः ॥३५॥

प० क्र०—(न) यह कहना समीचीन नहीं क्योंकि (सर्वेषां) सब का (अनधिकारः) होना नहीं बतलाया।

सं०—अब पूर्वोक्त वाक्य में सप्तदश ऋत्विज् अध्वर्यु आदि ही को मानना चाहिये इसका नियम करते हैं।

नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात् ॥३६॥

प० क्र०—'तु' शब्द नियम न होने के लिये प्रयोग किया गया है। (नियमः) सत्रह ऋत्विज् अध्वर्यु आदि ही हैं अन्य नहीं यह (दक्षिणाभिः) दक्षिणा वाक्य से सिद्ध है क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) दक्षिणावाक्य में उनकी संज्ञा का सम्बन्ध मिलता है।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात् ॥३७॥

प० क्र०—(च) एवं (यजमानत्वं) सत्र में सब ऋत्विजों को यजमान (उक्त्वा) कहा जाकर (तेषां) तदुपरान्त अध्वर्यु आदि की (दीक्षाविधानात्) दीक्षा का विधान उस अर्थ से पाया जाता है।

सं०—उन सत्रह अध्वर्यु आदि ऋत्विजों में सत्रहवां यजमान ही है इसे कहते हैं।

स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात् ॥३८॥

प० क्र०—(स्वामिसप्तदशाः) उन सत्रह में सत्रहवां यजमान ऋत्विज् कहा जाता है क्योंकि (कर्मसामान्यात्) विहित कर्म का करने वाला होने से बराबर है।

सं०—यज्ञ में अध्वर्यु आदिक ऋत्विजों का नियत कर्म कथन करते हैं।

ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वादग्नयश्च स्वकालत्वात् ॥३९॥

प० क्र०—(ते) अध्वर्यु आदि ऋत्विज् (सर्वार्थाः) यज्ञ के

अन्तर्गत सर्व कर्मों के निमित्त हैं क्योंकि (प्रयुक्तत्वात्) उसके लिये ही वे नियत किये जाते हैं। इसी प्रकार (स्वकालत्वात् अग्नयः च) अग्नियों के विषय में भी यथासमय विहित होने से यही समझना चाहिये।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

तत्संयोगात् कर्मणो व्यवस्था स्यात् संयोगस्यार्थवत्त्वात् ॥४०॥

प० क०—(कर्मणः) कर्म का (व्यवस्था) प्रत्येक ऋत्विज् के लिए नियम (स्यात्) है क्योंकि (तत्संयोगात्) उसके साथ आध्वर्यव आदि समाख्या का सम्बन्ध मिलता है और (संयोगस्य) वह सम्बन्ध (अर्थवत्त्वात्) निरर्थक नहीं होता।

सं०—समाख्या द्वारा नियम का बाध बतलाते हैं।

तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देशः ॥४१॥

प० क०—(उपदेशसमाख्यानेन) कहीं वाक्यविशेष द्वारा (तस्य) उस कर्म का (निर्देशः) नियम मिलता है।

सं०—इस का लक्षण यह है।

तद्वच्च लिंगदर्शनम् ॥४२॥

प० क—(च) तथा (तद्वत्) पूर्वोक्त कहे अनुसार उसी भांति (लिंगदर्शनम्) लक्षण भी मिलते हैं।

सं०—सब प्रैषानुवचन को मैत्रावरुण का कर्तव्य बतलाने के लिए पूर्वपक्ष करते हैं।

प्रैषाऽनुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात् ॥४३॥

प० क०—(प्रैषानुवचनं) समस्त एवं व्यस्त सब प्रैष एवं अनुवचन (मैत्रावरुणस्य) मैत्रावरुण को कर्त्तव्य है कारण कि (उपदेशात्) वाक्यविशेष से ऐसा ही है।

सं०—इस पक्ष का समाधान करते हैं।

पुरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात् ॥४४॥

प० क्र०—'वा' शब्द पूर्व पक्ष के निराकरणार्थ है। (पुरोऽनुवाक्याधिकारः) प्रैष सहित अनुवचन में मैत्रावरुण का अधिकार है सब में नहीं क्योंकि (प्रैषसन्निधानात्) वहां प्रैष के साथ ही अनुवचन का भी विधान है।

सं०—इस अर्थ में युक्ति देते हैं।

प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात् ॥४५॥

प० क्र०—(च) और (प्रातरनुवाके) अनुवचन रूप प्रातः पठित अनुवाक में (होतृदर्शनात्) होता का सम्बन्ध मिलने से यह अर्थ सिद्ध होता है।

सं०—अब अध्वर्यु चमस-होमों का कर्त्ता है इसका पूर्वपक्ष उठाते हैं।

चमसाँश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात् ॥४६

प० क्र०—(चमसान्) चमस होमों को (चमसाध्वर्यवः) चमसाध्वर्यु करें क्योंकि (समाख्यानात्) चमसाध्वर्यु समाख्या से ऐसा ही मिलता है।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

अध्वर्युर्वा तन्न्यायत्वात् ॥४७॥

प० क्र०—('वा') शब्द पूर्वपक्ष निरास के लिये आया है। (अध्वर्युः) चमसहोम का कर्त्ता अध्वर्यु है क्योंकि (तन्न्यायत्वात्) वह न्याय प्राप्त है।

सं०—इस कथन के लिए युक्ति देते हैं।

चमसे चान्यदर्शनात् ॥४८॥

प० क्र०—(च) और (चमसे) चमस-होम में (अन्यदर्शनात्) अन्य का सम्बन्ध मिलने से भी इस अर्थ की प्रामाणिकता है।

सं०—यदि चमसाध्वयु चमस-होम का कर्त्ता नहीं तो उनकी समाख्या क्यों की गई इसका समाधान करते हैं।

अशक्तौ ते प्रतीयेरन् ॥४९॥

प० क्र०—(अशक्तौ) अध्वयु के होम करने में अशक्त होने पर (ते) चमसाध्वयु (प्रतीयेरन्) हवन करते हैं।

सं०—अनेक विधि कर्मों का, जो वेदानुसार अनुष्ठेय हैं उनका वर्णन करते हैं।

वेदोपदेशात्पूर्ववद् वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः ॥५०॥

प० क्र०—(पूर्ववत्) पूर्व अधिकरण के अनुसार (वेदोपदेशात्) वैदिक समाख्यानुसार चमस-होम कर्त्ता अध्वयु ही कहा जावेगा उसी प्रकार (वेदान्यत्वे) नाना वेदोक्त कर्मों में भी (यथोपदेशं) वैदिक विधि अनुसार (स्युः) अनुष्ठेय हैं।

सं०—अब साङ्ग वेदाध्ययन की शिक्षा उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आवश्यक है, अतः उसे कहते हैं।

तद्ग्रहणाद्वा स्वधर्मः स्यादधिकारसामर्थ्यात् सहांगैरव्यक्तः शेषे ॥५१॥

प० क्र०—(वा)पूर्वपक्ष से विलक्षणता के द्योतक होने के लिये है (अधिकारसामर्थ्यात्) अपनी शक्ति अनुकूल है (अङ्गैः) व्याकरण आदि अङ्गों के (सह) सहित (तद्ग्रहणात्) वेद का ग्रहण होने से ही (स्वधर्मः) अपने धर्म का (स्यात्) निश्चय होता है न कि किसी दूसरे प्रकार, व्याकरणादि (शेषे) अंगों को छोड़ कर वेद से (अव्यक्तः) स्पष्ट नहीं होता।

इति कृते मीमांसा दर्शने तृतीयाध्याये सप्तमः पादः



अथ तृतीयाध्याये अष्टमः पादः प्रारभ्यते ।

सं०—यजमान ऋत्विजों का वरण करे इसको स्पष्ट करते हैं।

स्वामिकर्म परिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ॥१॥

प० क्र०—(परिक्रयः) ऋत्विजों का वरण (स्वामि-कर्म) यजमान करे कारण कि (कर्मणः) यज्ञ (तदर्थत्वात्) उसी के निमित्त है।

सं०—यजमान की आज्ञा से वरण कृत अध्वर्यु का कर्तव्य बतलाते हैं।

वचनादितरेषां स्यात् ॥२॥

प० क्र०—(वचनात्) यजमान की आज्ञा से (इतरेषां) अध्वर्यु आदि ऋत्विजों का भी (स्यात्) वह वरण होना चाहिये।

सं०—'वपन' आदि संस्कार याजमानता के कथन के लिये हैं।

संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद् व्यवतिष्ठेरन् ॥३॥

प० क्र०—'तु' पूर्वपक्ष सूचक है (पुरुषसामर्थ्ये) अनुष्ठान योग्यता के साधन निमित्त (संस्काराः) विहित 'वपन' आदि संस्कार (कर्मवत्) आध्वर्यव आदि कर्म के समान (यथावेदं) वेदानुकूल (व्यवतिष्ठेरन्) व्यवस्था होनी चाहिए।

सं०—इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात्कर्मवत् ॥४॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष के परिहार के लिये आया है। (कर्मवत्) प्रधान कर्म यजमान का होने से उसे याजमान कहा जाता है उसी भांति (याजमानः) केश वपन आदि संस्कार कर्म

भी यजमान ही हैं कारण कि (तत्प्रधानत्वात्) वह फल भोक्ता होने से प्रधान है।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

व्यपदेशाच्च ॥५॥

प० क्र०—(च) तथा (व्यपदेशात्) क्षौर कर्म सम्बन्धी अभ्यङ्ग से इसकी सिद्धि है।

सं०—पूर्वार्थ के साधक का कथन करते हैं।

गुणत्वे तस्य निर्देशः ॥६॥

प० क्र०—(गुणत्वे) यजमान का धर्म होते हुए ही (तस्य) वपन आदि का (निर्देशः) विधान बनता है।

सं०—अर्थ में साधकान्तर बतलाते हैं।

चोदनां प्रति भावाच्च ॥७।

प० क्र०—(च) तथा (चोदनां प्रति) जिसके लिये विधान मिलता है उसके प्रति (भावात्) संस्कार कर्म का सद्भाव होने से भी अर्थ सिद्धि होती है।

सं०—जैसे यजमान का कर्तव्य है उसी प्रकार समाख्यावश अध्वर्यु का भी कर्त्तव्य क्यों न मानें।

अतुल्यत्वादसमानविधानाः स्युः ॥८॥

प० क्र०—(असमानविधानाः स्युः) वह संस्कार (वपनादि) कर्म अध्वर्यु और यजमान दोनों को समान रूप कर्त्तव्य नहीं हो सकते क्योंकि (अतुल्यत्वात्) दोनों एक नहीं हैं।

सं०—'तप याजमान कर्म हैं।

तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत् ॥९॥

प० क्र०—(च) और (तपः) वपन आदि के समान तप (व्रत) भी यजमान का कर्म है क्योंकि (लोकवत्) लोक प्रसिद्ध परिश्रम

समान वह भी (फलसिद्धित्वात्) फल सिद्धि का हेतु है ।

सं०—वाक्य शेष से उस अर्थ की सिद्धि पाई जाती है ।

वाक्यशेषश्च तद्वत् ॥१०॥

प० क्र०—(च) और (तद्वत्) संसार के समान (वाक्यशेषः) वाक्य शेष भी उक्तार्थ का समर्थक है ।

सं०—तप को वाक्य विशेष के बल से कहीं ऋत्विजों का भी कर्म कहा है ।

वचनादितरेषाम् ॥११॥

प० क्र०—(वचनात्) वाक्य विशेष बल से (इतरेषां) कहीं कहीं ऋत्विजों का भी कर्म कहा गया तप (स्यात्) होता है ।

सं०—इसे ही पुनः दृढ़ करते हैं ।

गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् ॥१२॥

प० क्र०—(च) और (वेदेन) वेद सम्बन्धी 'आध्वर्यव' आदि समाख्या द्वारा (व्यवस्था) तप कर्मादि की व्यवस्था (न) नहीं (स्यात्) होती क्योंकि (गुणत्वात्) वह गौण कर्म है सब का नहीं ।

सं—फल कामना यजमान का कर्त्तव्य है ।

तथा कामोऽर्थसंयोगात् ॥१३।

प० क्र०—(तथा) जिस प्रकार 'तप' यजमान का कर्म है उसी प्रकार (कामः) फलेच्छा भी यजमान को ही करनी चाहिये क्योंकि (अर्थसंयोगात्) वह उस फल का भोक्ता है ।

सं०—इसका कुछ अपवाद कथन करते हैं ।

व्यपदेशादितरेषां स्यात् ॥१४।

प० क्र०—(व्यपदेशात्) वाक्यशेष के बल से (इतरेषां) ऋत्विज् भी (स्यात्) उक्त कामना के कर्त्ता होते हैं ।

सं०—'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि' मन्त्र पाठ यजमान को करना चाहिये या ऋत्विजों को।

मन्त्राश्चाऽकर्मकरणास्तद्वत् ॥१५॥

प० क्र०—(च) और (अकर्मकरणाः) जिन मन्त्रों में आहुति डालना आदि का विनियोग क्रियात्मक नहीं (मन्त्राः) उन मन्त्रों का पाठ (तद्वत्) कामना फल की प्राप्ति के निमित्त यजमान करे।

सं०—इसमें यह युक्ति देते हैं।

विप्रयोगे च दर्शनात्॥१६॥

प० क्र०—(च) तथा (विप्रयोगे) प्रवास में (दर्शनात्) प्रार्थना-विधान मिलने से भी यह अर्थ सिद्ध होता है।

सं०—"वाजस्य मा प्रसव" यजुर्वेद १७।६३ का मन्त्र यजमान और अध्वर्यु दोनों पढ़ें या क्या।

द्व्याम्नातेषूभौ द्व्याम्नानस्यार्थवत्त्वात् ॥१७॥

प० क्र०—(द्व्याम्नातेषु) दो बार जिन मन्त्रों का पाठ किया जावे उनको पढ़ना (उभौ) यजमान और अध्वर्यु दोनों का कर्तव्य है क्योंकि (द्व्याम्नानस्य) इसका दो बार आम्नान पाठ (अर्थवत्त्वात्) अर्थयुक्त हो जाता है।

सं०—मन्त्रार्थ वेत्ता यजमान मन्त्र पाठ करे इसे कहते हैं।

ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति ॥१८॥

प० क्र०—(ज्ञाते) मन्त्रार्थ ज्ञानी यजमान से (च) ही (वाचनं) यज्ञ में पठनीय मन्त्र पढ़वावे (हि) क्योंकि (अविद्वान्) मन्त्रार्थ न जानने वाला (विहितः न अस्ति) अविहित यजमान माना गया है।

सं०—बारह द्वन्द्व कर्मों को करने वाला अध्वर्यु हो, इसे कहते हैं।

याजमाने समाख्यानात् कर्माणि याजमानं स्युः ॥१९॥

प० क०—(कर्माणि) द्वादश द्वन्द्व संज्ञक कर्म (याजमानं स्युः) यजमान को करने चाहिए (याजमाने) याजमान काण्ड में (समाख्यानात्) उनका कथन मिलता है ।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं ।

अध्वर्युर्वा तदर्थो हि न्यायपूर्वं समाख्यानम् ॥२०॥

प० क०—'वा' पूर्वपक्ष के निराकरण के लिए आया है (अध्वर्युः) अध्वर्यु को उक्त द्वादश कर्म करने चाहियें (हि) कारण कि (तदर्थः) उनका उनके लिए ही परिक्रय किया जाता है और (समाख्यानम्) जो याजमान काण्ड में कथन है वह (न्यायपूर्वं) भी युक्तियुक्त है ।

सं०—अध्वर्यु के किये कर्म का अनुष्ठान होता को कर्तव्य है, इसे कहते हैं ।

विप्रतिषेधे करणः समवायविशेषादितरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्यात् ॥२१॥

प० क०—(विप्रतिषेधे) अध्वर्यु तथा होता से अनुष्ठान किये कर्म को 'कुण्डपायिनामयनम्'' संज्ञक यज्ञ में विधि वाक्यों से होता को करना कहा है (करणः) अध्वर्यु से अनुष्ठान किया कर्म ही होता को करना चाहिये क्योंकि (समवायविशेषात्) उसका उसी से सम्बन्ध है (इतरं) दूसरे कर्म (तेषां) होता सम्बन्धी ऋत्विजों के बीच (अन्यः) होता से भिन्न 'मैत्रावरुण' संज्ञक ऋत्विक् को करना चाहिये (यतः) क्योंकि (विशेषः) उसमें होता का सामीप्य रूप विशेष सम्बन्ध (स्यात्) है ।

सं०—प्रैषकर्ता से प्रैषार्थकर्ता का भेद बतलाते हैं ।

प्रैषेषु च पराधिकारात् ॥२२॥

प० क्र०—(च) और (प्रैषेषु) प्रैष का कर्त्ता 'प्रैष' कर्म से पृथक् है क्योंकि (पराधिकारात्) उसका अन्य के ही लिये विधान है।

सं०—अब अग्नीध्र को प्रैषार्थ का करने वाला बतलाते हैं।

अध्वर्युस्तु दर्शनात् ॥२३।

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष का सूचक है (अध्वर्युः) उस प्रैस का करने वाला अध्वर्यु है क्योंकि (दर्शनात्) उसका प्रैष कर्त्ता से भेद है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है।

गौणो वा कर्म सामान्यात् ॥२४॥

प० क्र०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण करता है। (गौणः) उस वाक्य में जो (अध्वर्युः) शब्द है वह गुण वृत्ति से अग्नीध्र संज्ञक है कारण कि (कर्मसामान्यात्) उसमें कर्म करने का धर्म पाया जाता है।

सं०—'करण' मन्त्रों में यजमान के फल की प्रार्थना करने पर पूर्वपक्ष करते हैं।

ऋत्विक्फलं करणेष्वर्थवत्त्वात् ।२५॥

प० क्र०—(करणेषु) करण वाचक मन्त्रों में (ऋत्विक्फलं) अध्वर्यु ऋत्विक् के लिए फल की प्रार्थना समीचीन है क्योंकि (अर्थवत्त्वात्) ऐसा होने से सार्थक होता है।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥२६॥

प० क्र०—'वा' पूर्वपक्ष के खण्डन को आया है। (स्वामिनः) यजमान के लिये याग-फल की प्रार्थना है क्योंकि (तदर्थत्वात्) वही यज्ञ फल का भोगने वाला है।

सं०—इस अर्थ का यह लिङ्ग है।

लिंगदर्शनाच्च ॥२७॥

प० क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) लिंग माने जाने से भी उस अर्थ की सिद्धि है।

सं०—इस अर्थ में एक अपवाद है उसे बतलाते हैं।

कर्मार्थं तु फलं तेषां स्वामिनं प्रत्यर्थवत्त्वात् ॥२८॥

प० क्र०—'तु' पूर्वाधिकरण से विलक्षण अर्थ का द्योतक है (तेषां) कहीं 'करण' मन्त्र में ऋत्विजों ने निज के लिए (फलं) स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रार्थना की है वह (कर्मार्थं) यजमान कर्म की वृद्धि के लिए है क्योंकि (स्वामिनं प्रति) यजमान के लिए (अर्थवत्त्वात्) बढ़ा हुआ कर्म ही फल होता है।

सं०—अब अध्वर्यु और यजमान दोनों के द्वारा समान प्रार्थना करने पर विचार करते हैं।

व्यपदेशाच्च ॥२९॥

प० क्र०—(च) और (व्यपदेशात्) कहीं २ वाक्य विशेष से भी फल प्रार्थना का होना अध्वर्यु एवं यजमान दोनों में समान पाया जाता है।

सं०—ननु द्रव्य संस्कार को प्रकृति एवं विकृति सब कर्मों के लिए है।

द्रव्यसंस्कारः प्रकरणाऽविशेषात् सर्वकर्मणाम् ॥३०॥

प० क्र०—(द्रव्य संस्कारः) यज्ञ उपयोगी 'बर्हि' आदि द्रव्यों के आस्तरण आदि संस्कार रूप धर्म (सर्वकर्मणा) सब कर्मों के लिए अर्थात् प्रकृति एवं विकृति दोनों को (प्रकरणाऽविशेषात्) प्रकरण से उनका सामान्य सम्बन्ध पाया जाता है।

सं०—कहीं २ प्रकृति में बतलाये धर्मों का विकृति में असम्बन्ध कहते हैं।

निर्देशात्तु विकृतावपूर्वस्याऽनधिकारः ॥२१॥

प० क्र०—'तु' विलक्षणता सूचक है। (विकृतौ) अग्नीषोमीय पशुसंज्ञक विकृति यज्ञ में (अपूर्वस्य) बर्हि आदि के लवनादि धर्मों का (अनधिकारः) सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि (निर्देशात्) उनके कार्य आदि का उस विकृति में ही विधान है, दर्शपूर्णमास रूप प्रकृति में नहीं पाया जाता।

सं०—विधृति और पवित्र दोनों के एक परिभोजनीय संज्ञक बर्हि से बनाये जाने को बतलाते हैं।

विरोधे च श्रुतिविशेषादव्यक्तः शेषे ॥२२॥

प० क्र०—(च) और (शेषे) विधृति तथा पवित्र दोनों में (अव्यक्तः) 'असंस्कृत बर्हि' का विनियोग है संस्कृत का नहीं क्योंकि (श्रुतिविशेषात्) उसका दोनों में विनियोग होने से वाक्य विशेष के साथ (विरोधे) विरोध हो जाता है।

सं०—प्रकृति पुरोडाश के शकल का ऐन्द्रवायव-पात्र में रखा जाना बतलाते हैं।

अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमानसंयोगात् ॥२३॥

प० क्र०—(एकदेशस्य) प्राकृत पुरोडाश के एक देश का (तु)

निश्चय ही (अपनय:) ऐन्द्रवायव नामक पात्र में अपनय होना योग्य है कारण कि (विद्यमानसंयोगात्) ऐसा होने से विद्यमान का संयोग मिलता है।

सं०—प्रधान काम्येष्टि के उपांशु धर्म का अनुष्ठान बतलाते हैं।

विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत् ॥२४॥

प० क०—(प्रकृतिवत्) दर्शपूर्णमास याग में विधान किये गए का (विकृतौ) काम्येष्टि विकृति याग में (शेषः) विधान किया उपांशुत्व रूप गुण भी (सर्वार्थः) अंग एवं प्रधान दोनों इष्टियों के लिए है।

सं०—इस पक्ष का समाधान करते हैं।

मुख्यार्थो वाऽङ्गस्याचोदितत्वात् ॥२५॥

प० क०—'वा' पूर्वपक्ष के निराकरण को आया है। (मुख्यार्थः) उपांशु धर्म का विधान प्रधान के निमित्त है क्योंकि (अङ्गस्य) अङ्ग का (अचोदितत्वात्) वह धर्म विधान नहीं किया गया।

सं०—नवनीत आज्य को 'श्येन' नामक यज्ञ के अंगभूत दीक्षणीय आदि इष्टियों का धर्म बतलाते हैं।

सन्निधानविशेषादसम्भवे तदङ्गानाम् ॥२६॥

प० क०—(असंभवे) 'श्येन' याग में आज्य द्रव्य का असम्भव होने से (तत्) विधान किया मक्खन घी (अङ्गानां) उस याग का अङ्गभूत दीक्षणीय आदि इष्टियों का धर्म है क्योंकि (सन्निधानविशेषात्) उनका धर्म होने से भी उसका याग के साथ विशेष सम्बन्ध हो सकता है।

सं०—इस अर्थ में आशंका करते हैं।

आधानेऽपि तथेति चेत् ॥३७॥

प० क्र०—(तथा) जैसे नवनीताज्य श्येन याग के अङ्गों का धर्म है इसी प्रकार (आधाने) अग्न्याधान का (अपि) भी धर्म है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं।

स०—इस आशंका का समाधान करते हैं।

नाऽप्रकरणत्वादङ्गस्याऽतन्निमित्तत्वात् ॥३८॥

प० क्र०—(न) कथन ठीक नहीं क्योंकि (अप्रकरणत्वात्) अग्न्याधान का प्रकरण नहीं और (अङ्गस्य) नवनीताज्य का (अतन्निमित्तत्वात्) उसके उद्देश्य से विधान नहीं किया जाता।

सं०—आज्य को श्येनयाग की अङ्गभूत सब इष्टियों का धर्म कहते हैं।

तत्काले वा लिंगदर्शनात् ॥३९॥

प० क्र०—'वा' पूर्वपक्ष का सूचक है। (तत्काले) वह आज्य सुत्यादिन में होने वाली इष्टियों का अङ्ग है क्योंकि (लिंगदर्शनात्) चिन्हों से पाया जाता है।

सं०—उक्त पक्ष का समाधान करते हैं।

सर्वेषां वाऽविशेषात् ॥४०॥

प० क्र०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण करता है। (सर्वेषां) वह आज्य 'श्येन' याग के सब अङ्गों का धर्म है क्योंकि (अविशेषात्) उसका सामान्य रूप से विधान है।

स०—पूर्वपक्ष में आए लिंग का समाधान किया जाता है।

न्यायोक्ते लिंगदर्शनम् ।४१।

प० क०—(न्यायोक्ते) प्रकरण में नवनीत वाक्य सम्पूर्ण की अंगता का द्योतक है (लिंगदर्शनात्) प्रमाण-वाक्य मिलने से।

सं०—सवनीय पुरोडाशों के प्रकृतिभूत द्रव्यों को कहते हैं।

मांसं तु सवनीयानां चोदनाविशेषात् ॥४२।

प० क०—'तु' सिद्धान्त सूचक शब्द है (सवनीयानां) सवनीय पुरोडाशों का (मांसं) 'व्रीहि' आदि के न मिलने पर मांसल प्रकृति द्रव्य है क्योंकि (चोदनाविशेषात्) उन द्रव्य विधायक वाक्यों में ऐसा ही विधान है।

सं०—मांस शब्द के जो मांसल गौणी वृत्ति से अर्थ किये गये हैं उसको ठीक न मानकर आशंका करते हैं।

भक्तिरसन्निधावन्याय्येति चेत् ॥४३।

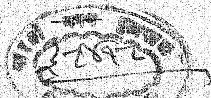
प० क०—(असन्निधौ) अन्य पद के समीप न होने से (भक्तिः) मांस पद का मांसल अर्थ माना है (अन्याय्या) सो ठीक नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा ही मानो तो ठीक नहीं है।

सं०—इस आशंका को उठा कर समाधान करते है।

स्यात्प्रकृतिलिंगाद्वैराजवत् ॥४४॥

प० क०—(वैराजवत्) जिस प्रकार 'वैराज' प्रकृति भूत मन्त्र को बतलाने वाले साम शब्द सन्निद्धि से वैराज पृष्ठ नामक स्तोत्र के वाचक होते हैं उसी प्रकार (सवनीयानां) सवनीय आदि शब्द की समीपता से मांस शब्द भी मांसल वाचक (स्यात्) हो सकता है अतः कथन समीचीन है।

इति मीमांसादर्शने तृतीयाध्याये अष्टमः पादः समाप्तः।



प्रेमी भक्तों के लिये भगवान भक्ति सम्बन्धी वेदान्त पुस्तकें

स्वामी महात्मा जीवनराम जी धर्माचार्य द्वारा लिखित—(१) जीवनराम (२) जीवाराम (३) जीवादास (४) जीवानन्द आदि चार उपनामों से लिखित

१. **अनुभव प्रकाश**—इसमें मनुष्य बोध भजनमाला, ज्ञान वैराग्य प्रकाश भजनमाला और ब्रह्मज्ञान भक्ति प्रकाश तीन पुस्तकें शामिल हैं, मूल्य ७॥) ।

२. **ज्ञान वैराग्य प्रकाश भजनमाला**—भवसागर से तरने के लिए नियमबद्ध पढ़ने योग्य पुस्तक जिसमें निर्गुण-सगुण भजनमाला व गद्य-पद्य प्रश्नोत्तर का संग्रह है । मूल्य ३) तीन रुपया ।

३. **मनुष्य बोध भजनमाला**—इस पुस्तक में ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, गृहस्थ और सन्यास चारों आश्रमों को भजन, दोहा, श्लोकों में अर्थ सहित समझाया गया है । मूल्य २॥) ढाई रुपया ।

४. **ब्रह्मज्ञान भक्ति प्रकाश**—जिसको लेखक ने रामजन (भगवान प्रेमियों) को बोध कराने के लिये लिखा है । मूल्य २॥) ढाई रुपया ।

५. **रामदेव जी की अवतार लीला**—इसमें रामदेव जी के जन्म से लेकर समाधि तक का विस्तृत वर्णन "खंभा खंभा खंभारे" तर्ज में किया गया है । मूल्य १॥) डेढ़ रुपया ।

६. **भक्ति उपदेश भजन माला**—यह पुस्तक ब्रह्मज्ञान भक्ति रहस्य तथा वेदान्त के प्रश्नोत्तर सहित लिखी गयी है । भजन दोहे अर्थ सहित वेद मंत्र सभी रोचक ढंग से लिखे गये हैं जो प्रत्येक मनुष्य मात्र के लिये बहुत ही उपयोगी हैं । मूल्य २॥) ढाई रुपया ।

७. **भक्ति प्रकाश प्रभाकर**—मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए इस अनुपम ग्रन्थ को प्रकाशित किया गया है । मूल्य केवल २॥) ढाई रुपया ।

८. **आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति अर्थात् सरल देहाती घरेलू इलाज**—(श्री जीवन राम गुसाईंवाल) उच्च विभूतियों एवं उच्च महात्माओं द्वारा आजमाइश किये हुए नुस्खे एवं इलाज जो सहज ही उपलब्ध हो सकें । मूल्य २॥)

९. **रामजन गुटका**—(श्री जीवनदास जी के शिष्य बुन्दूराम मात्रंगी कृत ब्रह्मज्ञान और आत्मा अनुभव तथा वेद सिद्धान्त अनुकूल लिखा गया है । मूल्य केवल २॥) ढाई रुपया ।

१०. **ब्रह्मज्ञान प्रकाश**—श्री बुन्दूराम मात्रंगी जी ने ब्रह्मज्ञान और आत्मज्ञान भजन, पद्य, छन्द द्वारा बहुत ही सुन्दर ढंग से लिखा है । मूल्य १॥)

११. **मोट मत मुक्तसागर**—श्री साधू-मोट राम जी द्वारा लिखा ज्ञान का यह अमूल्य भण्डार अवश्य मंगाइये । मूल्य १॥) डेढ़ रुपया ।

हर प्रकार की पुस्तकें मिलने तथा वी० पी० द्वारा मँगाने का एक मात्र स्थान

देहाती पुस्तक भण्डार (V. V. Book) चावड़ी दिल्ली-६

१२. कल्याण भारती—शब्द, चौपाई मिलान द्वारा बुद्धि को ठीक भगवान के हित में लगाने वाली पुस्तक, मूल्य २।।) ढाई रुपया।

१३. शंकरदास ब्रह्मज्ञान—सनातन धर्मी भजनों में बम्बई टाइप के मोटे अक्षर में इस पुस्तक को छापा गया है। यह पुस्तक निर्गुण की खान है मूल्य २।।) ढाई रुपया।

१४. मस्तनाथ चरित्र (लि० स्वामी मस्तनाथ जी)—इस पुस्तक में अनेक प्रकार के अद्भुत, मनोहर, विचित्र रूप व निर्माण, कवित्त, शिक्षा, उपदेश दोहा आदि संयुक्त अति उत्तम शिक्षा से सचित्र दिया गया है, मूल्य २।।) रुपया

दुग्ध उद्योग के लिए अमूल्य भेंट

डेरी फार्म—कालीचरण गुप्ता

नई वैज्ञानिक रोशनी एवं प्रगति को देखते हुए डेरीफार्म के लाभदायक कार्य को चलाने वाली आभ्यासिक जानकारी के लिए यह पुस्तक सोने में सुहागा का काम करती है। इसमें डेरी का इतिहास, दूध का भोजन में महत्त्व, कीटाणुओं की जानकारी, दूध रखने की विद्या एवं तरीके, दूध के भाग, जानवरों का प्रबन्ध एवं रोग रोकथाम और दूध का व्यापार आदि विभिन्न विद्याओं को सविस्तार सरल भाषा में समझाया गया है। विषय को देखते हुए कीमत सिर्फ ३।।) साढ़े तीन रुपये, डाक व्यय १।=) अलग।

कथावाचकों, उपदेशकों, ज्ञानी, विद्वानों तथा हर गृहस्थी के लिए

बृहत् दृष्टान्त सागर सम्पूर्ण पाँचों भाग

लेखक पं० हनुमान प्रसाद शर्मा (भारत सरकार द्वारा रजिस्टर्ड)

इस ग्रन्थ में वैदिक, लौकिक, सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, भक्ति और ज्ञान-वैराग्य आदि सभी विषयों में अच्छे से अच्छे दृष्टान्तों का संकलन किया गया है। संसार के अनेक महापुरुषों, राजाओं विद्वानों एवं सिद्धों के अनुभूत तत्त्वों का इसमें अनोखा समावेश है। महिलायें उपदेशक दृष्टान्त सुना कर अपने नाम का सिक्का जमाने के साथ-साथ बच्चों को उत्तम शिक्षा भी दे सकती हैं। पृष्ठ ८६८, सजिल्द पुस्तक का मूल्य १०।।) साढ़े दस रुपया, डाक व्यय २)।

शर्बत और सोडावाटर का व्यापार करो

शर्बतों का कारोबार—हुकमचन्द गुप्ता

शर्बत और सोडावाटर का व्यापार इस समय बड़ा लाभदायक है। देशी, अंग्रेजी, बाजारू, वैद्यक, यूनानी, डाक्टरी के तरह-तरह के शर्बत घर में ही तैयार कर सकते हो। जनसाधारण के लिए पुस्तक अत्यन्त लाभदायक है। मू० २।।) ढाई रुपये डाक खर्च १।) अलग।

हर प्रकार की पुस्तकें मिलने तथा वी० पी० द्वारा मंगाने का एक मात्र स्थान

देहाती पुस्तक भण्डार (V. V. Book) चावड़ी, दिल्ली-६